Visit Dwarkadheeshvastu.com For
FREE Vastu Consultancy, Music, Epics, Devotional Videos
Educational Books, Educational Videos, Wallpapers
****
All Music is also available in CD format. CD Cover can also be print with your Firm Name
****
We also provide this whole Music and Data in PENDRIVE and EXTERNAL HARD DISK.
Contact : Ankit Mishra (+91-8010381364, dwarkadheeshvastu@gmail.com)

॥ श्रीहरि ॥

महाभारत

(भाग–पाँच)

श्रीहरिः

विषय-सूची

(शान्तिपर्व)

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
	(राजधर्मानुशासनपर्व)	
१	युधिष्ठिरके पास नारद आदि महर्षियोंका आगमन और युधिष्ठिरका कर्णके साथ अपना सम्बन्ध बताते हुए कर्णको शाप मिलनेका वृत्तान्त पूछना	१७
२	नारदजीका कर्णको शाप प्राप्त होनेका प्रसंग सुनाना	२०
३	कर्णको ब्रह्मास्त्रकी प्राप्ति और परशुरामजीका शाप	२२
४	कर्णकी सहायतासे समागत राजाओंको पराजित करके दुर्योधनद्वारा स्वयंवरसे कलिंगराजकी कन्याका अपहरण	२५
५	कर्णके बल और पराक्रमका वर्णन, उसके द्वारा जरासंधकी पराजय और जरासंधका कर्णको अंगदेशमें मालिनी नगरीका राज्य प्रदान करना	२६
६	युधिष्ठिरकी चिन्ता, कुन्तीका उन्हें समझाना और स्त्रियोंको युधिष्ठिरका शाप	२८
७	युधिष्ठिरका अर्जुनसे आन्तरिक खेद प्रकट करते हुए अपने लिये राज्य छोड़कर वनमें चले जानेका प्रस्ताव करना	२९
८	अर्जुनका युधिष्ठिरके मतका निराकरण करते हुए उन्हें धनकी महत्ता बताना और राजधर्मके पालनके लिये जोर देते हुए यज्ञानुष्ठानके लिये प्रेरित करना	३२
९	युधिष्ठिरका वानप्रस्थ एवं संन्यासीके अनुसार जीवन व्यतीत करनेका निश्चय	३५
१०	भीमसेनका राजाके लिये संन्यासका विरोध करते हुए अपने कर्तव्यके ही पालनपर जोर देना	३८
११	अर्जुनका पक्षिरूपधारी इन्द्र और ऋषि-बालकोंके संवादका उल्लेखपूर्वक गृहस्थ-धर्मके पालनपर जोर देना	४०
१२	नकुलका गृहस्थ-धर्मकी प्रशंसा करते हुए राजा युधिष्ठिरको समझाना	४३
१३	सहदेवका युधिष्ठिरको ममता और आसक्तिसे रहित होकर राज्य करनेकी सलाह देना	४६
१४	द्रौपदीका युधिष्ठिरको राजदण्डधारणपूर्वक पृथ्वीका शासन करनेके लिये प्रेरित करना	४७
१५	अर्जुनके द्वारा राजदण्डकी महत्ताका वर्णन	५०
१६	भीमसेनका राजाको भुक्त दुःखोंकी स्मृति कराते हुए मोह छोड़कर मनको काबूमें करके राज्यशासन और यज्ञके लिये प्रेरित करना	५४
१७	युधिष्ठिरद्वारा भीमकी बातका विरोध करते हुए मुनिवृत्तिकी और ज्ञानी महात्माओंकी प्रशंसा	५६
१८	अर्जुनका राजा जनक और उनकी रानीका दृष्टान्त देते हुए युधिष्ठिरको संन्यास ग्रहण करनेसे रोकना	५८
१९	युधिष्ठिरद्वारा अपने मतकी यथार्थताका प्रतिपादन	६१
२०	मुनिवर देवस्थानका राजा युधिष्ठिरको यज्ञानुष्ठानके लिये प्रेरित करना	६३
२१	देवस्थान मुनिके द्वारा युधिष्ठिरके प्रति उत्तम धर्मका और यज्ञादि करनेका उपदेश	६५
२२	क्षत्रियधर्मकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनका पुनः राजा युधिष्ठिरको समझाना	६६
२३	व्यासजीका शंख और लिखितकी कथा सुनाते हुए राजा सुद्युम्नके दण्डधर्मपालनका महत्त्व सुनाकर युधिष्ठिरको राजधर्ममें ही दृढ़ रहनेकी आज्ञा देना	६७
२४	व्यासजीका युधिष्ठिरको राजा हयग्रीवका चरित्र सुनाकर उन्हें राजोचित कर्तव्यका पालन करनेके लिये जोर देना	७१

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
२५	सेनजित्‌के उपदेशयुक्त उद्‌गारोंका उल्लेख करके व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना	७४
२६	युधिष्ठिरके द्वारा धनके त्यागकी ही महत्ताका प्रतिपादन	७७
२७	युधिष्ठिरको शोकवश शरीर त्याग देनेके लिये उद्यत देख व्यासजीका उन्हें उससे निवारण करके समझाना	७९
२८	अश्मा ऋषि और जनकके संवादद्वारा प्रारब्धकी प्रबलता बतलाते हुए व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना	८२
२९	श्रीकृष्णके द्वारा नारद-सृंजय-संवादके रूपमें सोलह राजाओंका उपाख्यान संक्षेपमें सुनाकर युधिष्ठिरके शोकनिवारणका प्रयत्न	८६
३०	महर्षि नारद और पर्वतका उपाख्यान	९८
३१	सुवर्णष्ठीवीके जन्म, मृत्यु और पुनर्जीवनका वृत्तान्त	१०१
३२	व्यासजीका अनेक युक्तियोंसे राजा युधिष्ठिरको समझाना	१०४
३३	व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाते हुए कालकी प्रबलता बताकर देवासुरसंग्रामके उदाहरणसे धर्मद्रोहियोंके दमनका औचित्य सिद्ध करना और प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता बताना	१०६
३४	जिन कर्मोंके करने और न करनेसे कर्ता प्रायश्चित्तका भागी होता और नहीं होता उनका विवेचन	११०
३५	पापकर्मके प्रायश्चित्तोंका वर्णन	११२
३६	स्वायम्भुव मनुके कथनानुसार धर्मका स्वरूप, पापसे शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त, अभक्ष्य वस्तुओंका वर्णन तथा दानके अधिकारी एवं अनधिकारीका विवेचन	११६
३७	व्यासजी तथा भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे महाराज युधिष्ठिरका नगरमें प्रवेश	१२०
३८	नगर-प्रवेशके समय पुरवासियों तथा ब्राह्मणोंद्वारा राजा युधिष्ठिरका सत्कार और उनपर आक्षेप करनेवाले चार्वाकका ब्राह्मणोंद्वारा वध	१२३
३९	चार्वाकको प्राप्त हुए वर आदिका श्रीकृष्ण-द्वारा वर्णन	१२६
४०	युधिष्ठिरका राज्याभिषेक	१२७
४१	राजा युधिष्ठिरका धृतराष्ट्रके अधीन रहकर राज्यकी व्यवस्थाके लिये भाइयों तथा अन्य लोगोंको विभिन्न कार्योंपर नियुक्त करना	१२९
४२	राजा युधिष्ठिर तथा धृतराष्ट्रका युद्धमें मारे गये सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य राजाओंके लिये श्राद्धकर्म करना	१३०
४३	युधिष्ठिरद्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति	१३१
४४	महाराज युधिष्ठिरके दिये हुए विभिन्न भवनोंमें भीमसेन आदि सब भाइयोंका प्रवेश और विश्राम	१३३
४५	युधिष्ठिरके द्वारा ब्राह्मणों तथा आश्रितोंका सत्कार एवं दान और श्रीकृष्णके पास जाकर उनकी स्तुति करते हुए कृतज्ञता-प्रकाशन	१३४
४६	युधिष्ठिर और श्रीकृष्णका संवाद, श्रीकृष्ण-द्वारा भीष्मकी प्रशंसा और युधिष्ठिरको उनके पास चलनेका आदेश	१३६
४७	भीष्मद्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति—भीष्मस्तवराज	१४०
४८	परशुरामजीद्वारा होनेवाले क्षत्रियसंहारके विषयमें राजा युधिष्ठिरका प्रश्न	१५०
४९	परशुरामजीके उपाख्यानमें क्षत्रियोंके विनाश और पुनः उत्पन्न होनेकी कथा	१५१
५०	श्रीकृष्णद्वारा भीष्मजीके गुण-प्रभावका सविस्तर वर्णन	१५७
५१	भीष्मके द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति तथा श्रीकृष्णका भीष्मकी प्रशंसा करते हुए उन्हें युधिष्ठिरके लिये धर्मोपदेश करनेका आदेश	१६०
५२	भीष्मका अपनी असमर्थता प्रकट करना, भगवान्‌का उन्हें वर देना तथा ऋषियों एवं पाण्डवोंका दूसरे दिन आनेका संकेत करके वहाँसे विदा होकर अपने-अपने स्थानोंको जाना	१६१
५३	भगवान् श्रीकृष्णकी प्रातश्चर्या, सात्यकिद्वारा उनका संदेश पाकर भाइयोंसहित युधिष्ठिरका उन्हींके साथ कुरुक्षेत्रमें पधारना	१६४
५४	भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्मजीकी बातचीत	१६६

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
५५	भीष्मका युधिष्ठिरके गुणकथनपूर्वक उनको प्रश्न करनेका आदेश देना, श्रीकृष्णका उनके लज्जित और भयभीत होनेका कारण बताना और भीष्मका आश्वासन पाकर युधिष्ठिरका उनके समीप जाना	१७०
५६	युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मके द्वारा राजधर्मका वर्णन, राजाके लिये पुरुषार्थ और सत्यकी आवश्यकता, ब्राह्मणोंकी अदण्डनीयता तथा राजाकी परिहासशीलता और मृदुतासे प्रकट होनेवाले दोष	१७२
५७	राजाके धर्मानुकूल नीतिपूर्ण बर्तावका वर्णन	१७६
५८	भीष्मद्वारा राज्यरक्षाके साधनोंका वर्णन तथा संध्याके समय युधिष्ठिर आदिका विदा होना और रास्तेमें स्नान-संध्यादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर हस्तिनापुरमें प्रवेश	१८०
५९	ब्रह्माजीके नीतिशास्त्रका तथा राजा पृथुके चरित्रका वर्णन	१८२
६०	वर्ण-धर्मका वर्णन	१९४
६१	आश्रम-धर्मका वर्णन	१९९
६२	ब्राह्मणधर्म और कर्तव्यपालनका महत्त्व	२०१
६३	वर्णाश्रमधर्मका वर्णन तथा राजधर्मकी श्रेष्ठता	२०२
६४	राजधर्मकी श्रेष्ठताका वर्णन और इस विषयमें इन्द्ररूपधारी विष्णु और मान्धाताका संवाद	२०५
६५	इन्द्ररूपधारी विष्णु और मान्धाताका संवाद	२०८
६६	राजधर्मके पालनसे चारों आश्रमोंके धर्मका फल मिलनेका कथन	२११
६७	राष्ट्रकी रक्षा और उन्नतिके लिये राजाकी आवश्यकताका प्रतिपादन	२१४
६८	वसुमना और बृहस्पतिके संवादमें राजाके न होनेसे प्रजाकी हानि और होनेसे लाभका वर्णन	२१७
६९	राजाके प्रधान कर्तव्योंका तथा दण्डनीतिके द्वारा युगोंके निर्माणका वर्णन	२२१
७०	राजाको इहलोक और परलोकमें सुखकी प्राप्ति करानेवाले छत्तीस गुणोंका वर्णन	२३०
७१	धर्मपूर्वक प्रजाका पालन ही राजाका महान् धर्म है, इसका प्रतिपादन	२३१
७२	राजाके लिये सदाचारी विद्वान् पुरोहितकी आवश्यकता तथा प्रजापालनका महत्त्व	२३४
७३	विद्वान् सदाचारी पुरोहितकी आवश्यकता तथा ब्राह्मण और क्षत्रियमें मेल रहनेसे लाभ-विषयक राजा पुरूरवाका उपाख्यान	२३६
७४	ब्राह्मण और क्षत्रियके मेलसे लाभका प्रतिपादन करनेवाला मुचुकुन्दका उपाख्यान	२४०
७५	राजाके कर्तव्यका वर्णन, युधिष्ठिरका राज्यसे विरक्त होना एवं भीष्मजीका पुनः राज्यकी महिमा सुनाना	२४१
७६	उत्तम-अधम ब्राह्मणोंके साथ राजाका बर्ताव	२४४
७७	केकयराज तथा राक्षसका उपाख्यान और केकयराज्यकी श्रेष्ठताका विस्तृत वर्णन	२४६
७८	आपत्तिकालमें ब्राह्मणके लिये वैश्यवृत्तिसे निर्वाह करनेकी छूट तथा लुटेरोंसे अपनी और दूसरोंकी रक्षा करनेके लिये सभी जातियोंको शस्त्र धारण करनेका अधिकार एवं रक्षकको सम्मानका पात्र स्वीकार करना	२४९
७९	ऋत्विजोंके लक्षण, यज्ञ और दक्षिणाका महत्त्व तथा तपकी श्रेष्ठता	२५२
८०	राजाके लिये मित्र और अमित्रकी पहचान तथा उन सबके साथ नीतिपूर्ण बर्तावका और मन्त्रीके लक्षणोंका वर्णन	२५४
८१	कुटुम्बीजनोंमें दलबंदी होनेपर उस कुलके प्रधान पुरुषको क्या करना चाहिये? इसके विषयमें श्रीकृष्ण और नारदजीका संवाद	२५७
८२	मन्त्रियोंकी परीक्षाके विषयमें तथा राजा और राजकीय मनुष्योंसे सतर्क रहनेके विषयमें कालकवृक्षीय मुनिका उपाख्यान	२६०
८३	सभासद् आदिके लक्षण, गुप्त सलाह सुननेके अधिकारी और अनधिकारी तथा गुप्त-मन्त्रणाकी विधि एवं स्थानका निर्देश	२६६
८४	इन्द्र और बृहस्पतिके संवादमें सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन बोलनेका महत्त्व	२७१
८५	राजाकी व्यावहारिक नीति, मन्त्रिमण्डलका संघटन, दण्डका औचित्य तथा दूत, द्वारपाल, शिरोरक्षक, मन्त्री और सेनापतिके गुण	२७२

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
८६	राजाके निवासयोग्य नगर एवं दुर्गका वर्णन, उसके लिये प्रजापालनसम्बन्धी व्यवहार तथा तपस्वीजनोंके समादरका निर्देश..	२७५
८७	राष्ट्रकी रक्षा तथा वृद्धिके उपाय	२७७
८८	प्रजासे कर लेने तथा कोश-संग्रह करनेका प्रकार.....	२८०
८९	राजाके कर्तव्यका वर्णन	२८३
९०	उतथ्यका मान्धाताको उपदेश—राजाके लिये धर्मपालनकी आवश्यकता.....	२८५
९१	उतथ्यके उपदेशमें धर्माचरणका महत्त्व और राजाके धर्मका वर्णन	२८८
९२	राजाके धर्मपूर्वक आचारके विषयमें वामदेवजीका वसुमनाको उपदेश.....	२९३
९३	वामदेवजीके द्वारा राजोचित बर्तावका वर्णन	२९४
९४	वामदेवके उपदेशमें राजा और राज्यके लिये हितकर बर्ताव	२९७
९५	विजयाभिलाषी राजाके धर्मानुकूल बर्ताव तथा युद्धनीतिका वर्णन.....	२९९
९६	राजाके छलरहित धर्मयुक्त बर्तावकी प्रशंसा	३०१
९७	शूरवीर क्षत्रियोंके कर्तव्यका तथा उनकी आत्मशुद्धि और सद्गतिका वर्णन ...	३०३
९८	इन्द्र और अम्बरीषके संवादमें नदी और यज्ञके रूपकोंका वर्णन तथा समरभूमिमें जूझते हुए मारे जानेवाले शूरवीरोंको उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका कथन.....	३०५
९९	शूरवीरोंको स्वर्ग और कायरोंको नरककी प्राप्तिके विषयमें मिथिलेश्वर जनकका इतिहास.....	३११
१००	सैन्यसंचालनकी रीति-नीतिका वर्णन .	३१३
१०१	भिन्न-भिन्न देशके योद्धाओंके स्वभाव, रूप, बल, आचरण और लक्षणोंका वर्णन	३१७
१०२	विजयसूचक शुभाशुभ लक्षणोंका तथा उत्साही और बलवान् सैनिकोंका वर्णन एवं राजाको युद्धसम्बन्धी नीतिका निर्देश	३१९
१०३	शत्रुको वशमें करनेके लिये राजाको किस नीतिसे काम लेना चाहिये और दुष्टोंको कैसे पहचानना चाहिये—इसके विषयमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवाद.....	३२२
१०४	राज्य, खजाना और सेना आदिसे वंचित हुए असहाय क्षेमदर्शी राजाके प्रति कालक-वृक्षीय मुनिका वैराग्यपूर्ण उपदेश.....	३२७
१०५	कालकवृक्षीय मुनिके द्वारा गये हुए राज्यकी प्राप्तिके लिये विभिन्न उपायोंका वर्णन	३३१
१०६	कालकवृक्षीय मुनिका विदेहराज तथा कोसलराजकुमारमें मेल कराना और विदेहराजका कोसलराजको अपना जामाता बना लेना	३३४
१०७	गणतन्त्र राज्यका वर्णन और उसकी नीति.....	३३७
१०८	माता-पिता तथा गुरुकी सेवाका महत्त्व	३३९
१०९	सत्य-असत्यका विवेचन, धर्मका लक्षण तथा व्यावहारिक नीतिका वर्णन	३४२
११०	सदाचार और ईश्वरभक्ति आदिको दुःखोंसे छूटनेका उपाय बताना.....	३४५
१११	मनुष्यके स्वभावकी पहचान बतानेवाली बाघ और सियारकी कथा.....	३४७
११२	एक तपस्वी ऊँटके आलस्यका कुपरिणाम और राजाका कर्तव्य.....	३५४
११३	शक्तिशाली शत्रुके सामने बेंतकी भाँति नतमस्तक होनेका उपदेश—सरिताओं और समुद्रका संवाद.....	३५६
११४	दुष्ट मनुष्यद्वारा की हुई निन्दाको सह लेनेसे लाभ.....	३५८
११५	राजा तथा राजसेवकोंके आवश्यक गुण	३६०
११६	सज्जनोंके चरित्रके विषयमें दृष्टान्तरूपसे एक महर्षि और कुत्तेकी कथा	३६१
११७	कुत्तेका शरभकी योनिमें जाकर महर्षिके शापसे पुनः कुत्ता हो जाना	३६३
११८	राजाके सेवक, सचिव तथा सेनापति आदि और राजाके उत्तम गुणोंका वर्णन एवं उनसे लाभ.....	३६५
११९	सेवकोंको उनके योग्य स्थानपर नियुक्त करने, कुलीन और सत्पुरुषोंका संग्रह करने, कोष बढ़ाने तथा सबकी देखभाल करनेके लिये राजाको प्रेरणा.....	३६८
१२०	राजधर्मका साररूपमें वर्णन	३७०

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
१२१	दण्डके स्वरूप, नाम, लक्षण, प्रभाव और प्रयोगका वर्णन	३७५
१२२	दण्डकी उत्पत्ति तथा उसके क्षत्रियोंके हाथमें आनेकी परम्पराका वर्णन	३७९
१२३	त्रिवर्गका विचार तथा पापके कारण पदच्युत हुए राजाके पुनरुत्थानके विषयमें आंगरिष्ठ और कामन्दकका संवाद	३८३
१२४	इन्द्र और प्रह्लादकी कथा—शीलका प्रभाव, शीलके अभावमें धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मीके न रहनेका वर्णन	३८५
१२५	युधिष्ठिरका आशाविषयक प्रश्न—उत्तरमें राजा सुमित्र और ऋषभ नामक ऋषिके इतिहासका आरम्भ, उसमें राजा सुमित्रका एक मृगके पीछे दौड़ना	३९०
१२६	राजा सुमित्रका मृगकी खोज करते हुए तपस्वी मुनियोंके आश्रमपर पहुँचना और उनसे आशाके विषयमें प्रश्न करना	३९१
१२७	ऋषभका राजा सुमित्रको वीरद्युम्न और तनु मुनिका वृत्तान्त सुनाना	३९३
१२८	तनु मुनिका राजा वीरद्युम्नको आशाके स्वरूपका परिचय देना और ऋषभके उपदेशसे सुमित्रका आशाको त्याग देना	३९५
१२९	यम और गौतमका संवाद	३९७
१३०	आपत्तिके समय राजाका धर्म	३९८
	(आपद्धर्मपर्व)	
१३१	आपत्तिग्रस्त राजाके कर्तव्यका वर्णन	४०३
१३२	ब्राह्मणों और श्रेष्ठ राजाओंके धर्मका वर्णन तथा धर्मकी गतिको सूक्ष्म बताना	४०४
१३३	राजाके लिये कोशसंग्रहकी आवश्यकता, मर्यादाकी स्थापना और अमर्यादित दस्युवृत्तिकी निन्दा	४०६
१३४	बलकी महत्ता और पापसे छूटनेका प्रायश्चित्त	४०८
१३५	मर्यादाका पालन करने-करानेवाले कायव्य नामक दस्युकी सद्गतिका वर्णन	४०९
१३६	राजा किसका धन ले और किसका न ले तथा किसके साथ कैसा बर्ताव करे—इसका विचार	४११
१३७	आनेवाले संकटसे सावधान रहनेके लिये दूरदर्शी, तत्कालज्ञ और दीर्घसूत्री—इन तीन मत्स्योंका दृष्टान्त	४१२
१३८	शत्रुओंसे घिरे हुए राजाके कर्तव्यके विषयमें बिडाल और चूहेका आख्यान	४१४
१३९	शत्रुसे सदा सावधान रहनेके विषयमें राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़ियाका संवाद	४३०
१४०	भारद्वाज कणिकका सौराष्ट्रदेशके राजाको कूटनीतिका उपदेश	४३९
१४१	'ब्राह्मण भयंकर संकटकालमें किस तरह जीवन-निर्वाह करे' इस विषयमें विश्वामित्र मुनि और चाण्डालका संवाद	४४५
१४२	आपत्कालमें राजाके धर्मका निश्चय तथा उत्तम ब्राह्मणोंके सेवनका आदेश	४५३
१४३	शरणागतकी रक्षा करनेके विषयमें एक बहेलिये और कपोत-कपोतीका प्रसंग, सर्दीसे पीड़ित हुए बहेलियेका एक वृक्षके नीचे जाकर सोना	४५६
१४४	कबूतरद्वारा अपनी भार्याका गुणगान तथा पतिव्रता स्त्रीकी प्रशंसा	४५९
१४५	कबूतरीका कबूतरसे शरणागत व्याधकी सेवाके लिये प्रार्थना	४६०
१४६	कबूतरके द्वारा अतिथि-सत्कार और अपने शरीरका बहेलियेके लिये परित्याग	४६१
१४७	बहेलियेका वैराग्य	४६३
१४८	कबूतरीका विलाप और अग्निमें प्रवेश तथा उन दोनोंको स्वर्गलोककी प्राप्ति	४६४
१४९	बहेलियेको स्वर्गलोककी प्राप्ति	४६५
१५०	इन्द्रोत मुनिका राजा जनमेजयको फटकारना	४६७
१५१	ब्रह्महत्याके अपराधी जनमेजयका इन्द्रोत मुनिकी शरणमें जाना और इन्द्रोत मुनिका उससे ब्राह्मणद्रोह न करनेकी प्रतिज्ञा कराकर उसे शरण देना	४६८
१५२	इन्द्रोतका जनमेजयको धर्मोपदेश करके उनसे अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान कराना तथा निष्पाप राजाका पुनः अपने राज्यमें प्रवेश	४७०

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
१५३	मृतककी पुनर्जीवन-प्राप्तिके विषयमें एक ब्राह्मण बालकके जीवित होनेकी कथा; उसमें गीध और सियारकी बुद्धिमत्ता .	४७३
१५४	नारदजीका सेमल-वृक्षसे प्रशंसापूर्वक प्रश्न	४८२
१५५	नारदजीका सेमल-वृक्षको उसका अहंकार देखकर फटकारना.....	४८४
१५६	नारदजीकी बात सुनकर वायुका सेमलको धमकाना और सेमलका वायुको तिरस्कृत करके विचारमग्न होना	४८६
१५७	सेमलका हार स्वीकार करना तथा बलवान्‌के साथ वैर न करनेका उपदेश	४८७
१५८	समस्त अनर्थोंका कारण लोभको बताकर उससे होनेवाले विभिन्न पापोंका वर्णन तथा श्रेष्ठ महापुरुषोंके लक्षण.....	४८९
१५९	अज्ञान और लोभको एक दूसरेका कारण बताकर दोनोंकी एकता करना और दोनोंको ही समस्त दोषोंका कारण सिद्ध करना	४९१
१६०	मन और इन्द्रियोंके संयमरूप दमका माहात्म्य	४९२
१६१	तपकी महिमा.....	४९५
१६२	सत्यके लक्षण, स्वरूप और महिमाका वर्णन	४९६
१६३	काम, क्रोध आदि तेरह दोषोंका निरूपण और उनके नाशका उपाय.....	४९८
१६४	नृशंस अर्थात् अत्यन्त नीच पुरुषके लक्षण	५००
१६५	नाना प्रकारके पापों और उनके प्रायश्चित्तोंका वर्णन.....	५०१
१६६	खड्गकी उत्पत्ति और प्राप्तिकी परम्पराकी महिमाका वर्णन.....	५०८
१६७	धर्म, अर्थ और कामके विषयमें विदुर तथा पाण्डवोंके पृथक्-पृथक् विचार तथा अन्तमें युधिष्ठिरका निर्णय	५१४
१६८	मित्र बनाने एवं न बनाने योग्य पुरुषोंके लक्षण तथा कृतघ्न गौतमकी कथाका आरम्भ.....	५१८
१६९	गौतमका समुद्रकी ओर प्रस्थान और संध्याके समय एक दिव्य बकपक्षीके घरपर अतिथि होना.....	५२२
१७०	गौतमका राजधर्माद्वारा आतिथ्य-सत्कार और उसका राक्षसराज विरूपाक्षके भवनमें प्रवेश	५२३
१७१	गौतमका राक्षसराजके यहाँसे सुवर्णराशि लेकर लौटना और अपने मित्र बकके वधका घृणित विचार मनमें लाना.....	५२६
१७२	कृतघ्न गौतमद्वारा मित्र राजधर्माका वध तथा राक्षसोंद्वारा उसकी हत्या और कृतघ्नके मांसको अभक्ष्य बताना	५२८
१७३	राजधर्मा और गौतमका पुनः जीवित होना	५३०
	(मोक्षधर्मपर्व)	
१७४	शोकाकुल चित्तकी शान्तिके लिये राजा सेनजित् और ब्राह्मणके संवादका वर्णन	५३२
१७५	अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषका क्या कर्तव्य है, इस विषयमें पिताके प्रति पुत्रद्वारा ज्ञानका उपदेश.....	५३७
१७६	त्यागकी महिमाके विषयमें शम्पाक ब्राह्मणका उपदेश.....	५४०
१७७	मंकिगीता—धनकी तृष्णासे दुःख और उसकी कामनाके त्यागसे परम सुखकी प्राप्ति.....	५४२
१७८	जनककी उक्ति तथा राजा नहुषके प्रश्नोंके उत्तरमें बोध्यगीता.....	५४६
१७९	प्रह्लाद और अवधूतका संवाद—अजगर-वृत्तिकी प्रशंसा	५४८
१८०	सद्बुद्धिका आश्रय लेकर आत्महत्यादि पापकर्मसे निवृत्त होनेके सम्बन्धमें काश्यप ब्राह्मण और इन्द्रका संवाद.....	५५१
१८१	शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम कर्ताको अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन....	५५६
१८२	भरद्वाज और भृगुके संवादमें जगत्‌की उत्पत्तिका और विभिन्न तत्त्वोंका वर्णन	५५९
१८३	आकाशसे अन्य चार स्थूल भूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन	५६२
१८४	पंचमहाभूतोंके गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन.....	५६३
१८५	शरीरके भीतर जठरानल तथा प्राण-अपान आदि वायुओंकी स्थिति आदिका वर्णन	५६६

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
१८६	जीवकी सत्तापर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे शंका उपस्थित करना	५६८
१८७	जीवकी सत्ता तथा नित्यताको युक्तियोंसे सिद्ध करना	५६९
१८८	वर्णविभागपूर्वक मनुष्योंकी और समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका वर्णन	५७२
१८९	चारों वर्णोंके अलग-अलग कर्मोंका और सदाचारका वर्णन तथा वैराग्यसे परब्रह्मकी प्राप्ति	५७३
१९०	सत्यकी महिमा, असत्यके दोष तथा लोक और परलोकके सुख-दुःखका विवेचन	५७५
१९१	ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमोंके धर्मका वर्णन	५७७
१९२	वानप्रस्थ और संन्यास धर्मोंका वर्णन तथा हिमालयके उत्तर पार्श्वमें स्थित उत्कृष्ट लोककी विलक्षणता एवं महत्ताका प्रतिपादन, भृगु-भरद्वाज-संवादका उपसंहार	५७९
१९३	शिष्टाचारका फलसहित वर्णन, पापको छिपानेसे हानि और धर्मकी प्रशंसा ...	५८२
१९४	अध्यात्मज्ञानका निरूपण	५८५
१९५	ध्यानयोगका वर्णन	५९०
१९६	जपयज्ञके विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न, उसके उत्तरमें जप और ध्यानकी महिमा और उसका फल	५९२
१९७	जापकमें दोष आनेके कारण उसे नरककी प्राप्ति	५९३
१९८	परमधामके अधिकारी जापकके लिये देवलोक भी नरकतुल्य हैं—इसका प्रतिपादन	५९५
१९९	जापकको सावित्रीका वरदान, उसके पास धर्म, यम और काल आदिका आगमन, राजा इक्ष्वाकु और जापक ब्राह्मणका संवाद, सत्यकी महिमा तथा जापककी परमगतिका वर्णन	५९६
२००	जापक ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकुकी उत्तम गतिका वर्णन तथा जापकको मिलनेवाले फलकी उत्कृष्टता	६०६

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
२०१	बृहस्पतिके प्रश्नके उत्तरमें मनुद्वारा कामनाओंके त्यागकी एवं ज्ञानकी प्रशंसा तथा परमात्मतत्त्वका निरूपण	६१०
२०२	आत्मतत्त्वका और बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थोंका विवेचन तथा उसके साक्षात्कारका उपाय	६१४
२०३	शरीर, इन्द्रिय और मन-बुद्धिसे अतिरिक्त आत्माकी नित्य सत्ताका प्रतिपादन.....	६१७
२०४	आत्मा एवं परमात्माके साक्षात्कारका उपाय तथा महत्त्व	६१९
२०५	परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय.....	६२१
२०६	परमात्मतत्त्वका निरूपण—मनु-बृहस्पतिसंवादकी समाप्ति	६२३
२०७	श्रीकृष्णसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिका तथा उनकी महिमाका कथन.....	६२६
२०८	ब्रह्माके पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियोंके वंशका तथा प्रत्येक दिशामें निवास करनेवाले महर्षियोंका वर्णन.....	६३१
२०९	भगवान् विष्णुका वराहरूपमें प्रकट होकर देवताओंकी रक्षा और दानवोंका विनाश कर देना तथा नारदको अनुस्मृतिस्तोत्रका उपदेश और नारदद्वारा भगवान्‌की स्तुति	६३३
२१०	गुरु-शिष्यके संवादका उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण-सम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका वर्णन	६४२
२११	संसारचक्र और जीवात्माकी स्थितिका वर्णन	६४६
२१२	निषिद्ध आचरणके त्याग, सत्त्व, रज और तमके कार्य एवं परिणामका तथा सत्त्वगुणके सेवनका उपदेश.....	६४७
२१३	जीवोत्पत्तिका वर्णन करते हुए दोषों और बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये विषयासक्तिके त्यागका उपदेश.....	६५०
२१४	ब्रह्मचर्य तथा वैराग्यसे मुक्ति.....	६५२
२१५	आसक्ति छोड़कर सनातन ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेका उपदेश.....	६५४
२१६	स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थामें मनकी स्थिति तथा गुणातीत ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय.....	६५७

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
२१७	सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग, प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) उन चारोंके ज्ञानसे मुक्तिका कथन तथा परमात्मप्राप्तिके अन्य साधनोंका भी वर्णन	६५८
२१८	राजा जनकके दरबारमें पंचशिखका आगमन और उनके द्वारा नास्तिक मतोंके निराकरणपूर्वक शरीरसे भिन्न आत्माकी नित्य सत्ताका प्रतिपादन	६६२
२१९	पंचशिखके द्वारा मोक्ष-तत्त्वका विवेचन एवं भगवान् विष्णुद्वारा मिथिलानरेश जनकवंशी जनदेवकी परीक्षा और उनके लिये वरप्रदान	६६८
२२०	श्वेतकेतु और सुवर्चलाका विवाह, दोनों पति-पत्नीका अध्यात्मविषयक संवाद तथा गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करते हुए ही उनका परमात्माको प्राप्त होना एवं दमकी महिमाका वर्णन	६७४
२२१	व्रत, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य तथा अतिथिसेवा आदिका विवेचन तथा यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करनेवालेको परम उत्तम गतिकी प्राप्तिका कथन	६८३
२२२	सनत्कुमारजीका ऋषियोंको भगवत्स्वरूपका उपदेश देना	६८५
२२३	इन्द्र और बलिका संवाद—इन्द्रके आक्षेप-युक्त वचनोंका बलिके द्वारा कठोर प्रत्युत्तर	६९१
२२४	बलि और इन्द्रका संवाद, बलिके द्वारा कालकी प्रबलताका प्रतिपादन करते हुए इन्द्रको फटकारना	६९४
२२५	इन्द्र और लक्ष्मीका संवाद, बलिको त्यागकर आयी हुई लक्ष्मीकी इन्द्रके द्वारा प्रतिष्ठा	६९८
२२६	इन्द्र और नमुचिका संवाद	७०१
२२७	इन्द्र और बलिका संवाद—काल और प्रारब्धकी महिमाका वर्णन	७०३
२२८	दैत्योंको त्यागकर इन्द्रके पास लक्ष्मीदेवीका आना तथा किन सद्गुणोंके होनेपर लक्ष्मी आती हैं और किन दुर्गुणोंके होनेपर वे त्यागकर चली जाती हैं, इस बातको विस्तारपूर्वक बताना	७१२
२२९	जैगीषव्यका असित-देवलको समत्वबुद्धिका उपदेश	७२०
२३०	श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवाद—नारदजीकी लोकप्रियताके हेतुभूत गुणोंका वर्णन	७२२
२३१	शुकदेवजीका प्रश्न और व्यासजीका उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कालका स्वरूप बताना	७२४
२३२	व्यासजीका शुकदेवको सृष्टिके उत्पत्ति-क्रम तथा युगधर्मोंका उपदेश	७२७
२३३	ब्राह्मप्रलय एवं महाप्रलयका वर्णन	७३०
२३४	ब्राह्मणोंका कर्तव्य और उन्हें दान देनेकी महिमाका वर्णन	७३२
२३५	ब्राह्मणके कर्तव्यका प्रतिपादन करते हुए कालरूप नदको पार करनेका उपाय बतलाना	७३५
२३६	ध्यानके सहायक योग, उनके फल और सात प्रकारकी धारणाओंका वर्णन तथा सांख्य एवं योगके अनुसार ज्ञानद्वारा मोक्षकी प्राप्ति	७३७
२३७	सृष्टिके समस्त कार्योंमें बुद्धिकी प्रधानता और प्राणियोंकी श्रेष्ठताके तारतम्यका वर्णन	७४२
२३८	नाना प्रकारके भूतोंकी समीक्षापूर्वक कर्मतत्त्वका विवेचन, युगधर्मका वर्णन एवं कालका महत्त्व	७४४
२३९	ज्ञानका साधन और उसकी महिमा	७४५
२४०	योगसे परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन	७४८
२४१	कर्म और ज्ञानका अन्तर तथा ब्रह्म-प्राप्तिके उपायका वर्णन	७५१
२४२	आश्रमधर्मकी प्रस्तावना करते हुए ब्रह्मचर्य-आश्रमका वर्णन	७५३
२४३	ब्राह्मणोंके उपलक्षणसे गार्हस्थ्य-धर्मका वर्णन	७५५
२४४	वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमके धर्म और महिमाका वर्णन	७५८
२४५	संन्यासीके आचरण और ज्ञानवान् संन्यासीकी प्रशंसा	७६१
२४६	परमात्माकी श्रेष्ठता, उसके दर्शनका उपाय तथा इस ज्ञानमय उपदेशके पात्रका निर्णय	७६४

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
२४७	महाभूतादि तत्त्वोंका विवेचन	७६६
२४८	बुद्धिकी श्रेष्ठता और प्रकृति-पुरुष-विवेक	७६८
२४९	ज्ञानके साधन तथा ज्ञानीके लक्षण और महिमा	७७०
२५०	परमात्माकी प्राप्तिका साधन, संसार-नदीका वर्णन और ज्ञानसे ब्रह्मकी प्राप्ति	७७२
२५१	ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणके लक्षण और परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय.....	७७४
२५२	शरीरमें पंचभूतोंके कार्य और गुणोंकी पहचान	७७६
२५३	स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे भिन्न जीवात्माका और परमात्माका योगके द्वारा साक्षात्कार करनेका प्रकार.....	७७७
२५४	कामरूपी अद्भुत वृक्षका तथा उसे काटकर मुक्ति प्राप्त करनेके उपायका और शरीररूपी नगरका वर्णन	७७८
२५५	पंचभूतोंके तथा मन और बुद्धिके गुणोंका विस्तृत वर्णन	७७९
२५६	युधिष्ठिरका मृत्युविषयक प्रश्न, नारदजीका राजा अकम्पनसे मृत्युकी उत्पत्तिका प्रसंग सुनाते हुए ब्रह्माजीकी रोषाग्निसे प्रजाके दग्ध होनेका वर्णन.....	७८१
२५७	महादेवजीकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीके द्वारा अपनी रोषाग्निका उपसंहार तथा मृत्युकी उत्पत्ति	७८२
२५८	मृत्युकी घोर तपस्या और प्रजापतिकी आज्ञासे उसका प्राणियोंके संहारका कार्य स्वीकार करना	७८४
२५९	धर्माधर्मके स्वरूपका निर्णय	७८७
२६०	युधिष्ठिरका धर्मकी प्रामाणिकतापर संदेह उपस्थित करना	७९०
२६१	जाजलिकी घोर तपस्या, सिरपर जटाओंमें पक्षियोंके घोंसला बनानेसे उनका अभिमान और आकाशवाणीकी प्रेरणासे उनका तुलाधार वैश्यके पास जाना ...	७९२
२६२	जाजलि और तुलाधारका धर्मके विषयमें संवाद	७९६
२६३	जाजलिको तुलाधारका आत्मयज्ञविषयक धर्मका उपदेश	८०१
२६४	जाजलिको पक्षियोंका उपदेश.....	८०४
२६५	राजा विचक्षुके द्वारा अहिंसा-धर्मकी प्रशंसा	८०६
२६६	महर्षि गौतम और चिरकारीका उपाख्यान-दीर्घकालतक सोच-विचारकर कार्य करनेकी प्रशंसा.....	८०८
२६७	द्युमत्सेन और सत्यवान्‌का संवाद—अहिंसा-पूर्वक राज्यशासनकी श्रेष्ठताका कथन	८१५
२६८	स्यूमरश्मि और कपिलका संवाद—स्यूमरश्मिके द्वारा यज्ञकी अवश्यकर्तव्यताका निरूपण.....	८१८
२६९	प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमार्गके विषयमें स्यूमरश्मि-कपिल संवाद	८२१
२७०	स्यूमरश्मि-कपिल-संवाद—चारों आश्रमोंमें उत्तम साधनोंके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्तिका कथन.....	८२७
२७१	धन और काम-भोगोंकी अपेक्षा धर्म और तपस्याका उत्कर्ष सूचित करनेवाली ब्राह्मण और कुण्डधार मेघकी कथा	८३०
२७२	यज्ञमें हिंसाकी निन्दा और अहिंसाकी प्रशंसा	८३५
२७३	धर्म, अधर्म, वैराग्य और मोक्षके विषयमें युधिष्ठिरके चार प्रश्न और उनका उत्तर	८३६
२७४	मोक्षके साधनका वर्णन	८३८
२७५	जीवात्माके देहाभिमानसे मुक्त होनेके विषयमें नारद और असितदेवलका संवाद	८४०
२७६	तृष्णाके परित्यागके विषयमें माण्डव्य मुनि और जनकका संवाद	८४३
२७७	शरीर और संसारकी अनित्यता तथा आत्म-कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके कर्तव्यका निर्देश—पिता-पुत्रका संवाद	८४४
२७८	हारीत मुनिके द्वारा प्रतिपादित संन्यासीके स्वभाव, आचरण और धर्मोंका वर्णन	८४७
२७९	ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय तथा उस विषयमें वृत्र-शुक्र-संवादका आरम्भ	८४९
२८०	वृत्रासुरको सनत्कुमारका अध्यात्मविषयक उपदेश देना और उसकी परमगति तथा भीष्मद्वारा युधिष्ठिरकी शंकाका निवारण	८५२

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
२८१	इन्द्र और वृत्रासुरके युद्धका वर्णन	८६१
२८२	वृत्रासुरका वध और उससे प्रकट हुई ब्रह्महत्याका ब्रह्माजीके द्वारा चार स्थानोंमें विभाजन.....	८६४
२८३	शिवजीद्वारा दक्षयज्ञका भंग और उनके क्रोधसे ज्वरकी उत्पत्ति तथा उसके विविध रूप.....	८६८
२८४	पार्वतीके रोष एवं खेदका निवारण करनेके लिये भगवान् शिवके द्वारा दक्षयज्ञका विध्वंस, दक्षद्वारा किये हुए शिवसहस्रनाम-स्तोत्रसे संतुष्ट होकर महादेवजीका उन्हें वरदान देना तथा इस स्तोत्रकी महिमा	८७३
२८५	अध्यात्मज्ञानका और उसके फलका वर्णन	८८९
२८६	समंगके द्वारा नारदजीसे अपनी शोकहीन स्थितिका वर्णन	८९३
२८७	नारदजीका गालव मुनिको श्रेयका उपदेश	८९५
२८८	अरिष्टनेमिका राजा सगरको वैराग्योत्पादक मोक्षविषयक उपदेश	८९९
२८९	भृगुपुत्र उशनाका चरित्र और उन्हें शुक्र नामकी प्राप्ति	९०२
२९०	पराशरगीताका आरम्भ—पराशर मुनिका राजा जनकको कल्याणकी प्राप्तिके साधनका उपदेश.....	९०५
२९१	पराशरगीता—कर्मफलकी अनिवार्यता तथा पुण्यकर्मसे लाभ	९०८
२९२	पराशरगीता—धर्मोपार्जित धनकी श्रेष्ठता, अतिथि-सत्कारका महत्त्व, पाँच प्रकारके ऋणोंसे छूटनेकी विधि, भगवत्स्तवनकी महिमा एवं सदाचार तथा गुरुजनोंकी सेवासे महान् लाभ	९१०
२९३	पराशरगीता—शूद्रके लिये सेवावृत्तिकी प्रधानता, सत्संगकी महिमा और चारों वर्णोंके धर्मपालनका महत्त्व	९११
२९४	पराशरगीता—ब्राह्मण और शूद्रकी जीविका, निन्दनीय कर्मोंके त्यागकी आज्ञा, मनुष्योंमें आसुरभावकी उत्पत्ति और भगवान् शिवके द्वारा उसका निवारण तथा स्वधर्मके अनुसार कर्तव्य-पालनका आदेश	९१३
२९५	पराशरगीता—विषयासक्त मनुष्यका पतन, तपोबलकी श्रेष्ठता तथा दृढ़तापूर्वक स्वधर्मपालनका आदेश	९१६
२९६	पराशरगीता—वर्णविशेषकी उत्पत्तिका रहस्य, तपोबलसे उत्कृष्ट वर्णकी प्राप्ति, विभिन्न वर्णोंके विशेष और सामान्य धर्म, सत्कर्मकी श्रेष्ठता तथा हिंसारहित धर्मका वर्णन	९१८
२९७	पराशरगीता—नाना प्रकारके धर्म और कर्तव्योंका उपदेश	९२१
२९८	पराशरगीताका उपसंहार—राजा जनकके विविध प्रश्नोंका उत्तर.....	९२५
२९९	हंसगीता—हंसरूपधारी ब्रह्माका साध्यगणोंको उपदेश	९२९
३००	सांख्य और योगका अन्तर बतलाते हुए योगमार्गके स्वरूप, साधन, फल और प्रभावका वर्णन	९३५
३०१	सांख्ययोगके अनुसार साधन और उसके फलका वर्णन	९४०
३०२	वसिष्ठ और करालजनकका संवाद—क्षर और अक्षरतत्त्वका निरूपण और इनके ज्ञानसे मुक्ति.....	९४८
३०३	प्रकृति संसर्गके कारण जीवका अपनेको नाना प्रकारके कर्मोंका कर्ता और भोक्ता मानना एवं नाना योनियोंमें बारंबार जन्म ग्रहण करना.....	९५२
३०४	प्रकृतिके संसर्गदोषसे जीवका पतन...	९५६
३०५	क्षर-अक्षर एवं प्रकृति-पुरुषके विषयमें राजा जनककी शंका और उसका वसिष्ठजीद्वारा उत्तर	९५७
३०६	योग और सांख्यके स्वरूपका वर्णन तथा आत्मज्ञानसे मुक्ति.....	९६१
३०७	विद्या-अविद्या, अक्षर और क्षर तथा प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका एवं विवेकीके उद्गारका वर्णन.....	९६५
३०८	क्षर-अक्षर और परमात्मतत्त्वका वर्णन, जीवके नानात्व और एकत्वका दृष्टान्त, उपदेशके अधिकारी और अनधिकारी तथा इस ज्ञानकी परम्पराको बताते हुए वसिष्ठ-करालजनक-संवादका उपसंहार	९६८

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
३०९	जनकवंशी वसुमान्‌को एक मुनिका धर्म-विषयक उपदेश	९७३
३१०	याज्ञवल्क्यका राजा जनकको उपदेश—सांख्यमतके अनुसार चौबीस तत्त्वों और नौ प्रकारके सर्गोंका निरूपण	९७५
३११	अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, मन और विषयोंकी कालसंख्याका एवं सृष्टिका वर्णन तथा इन्द्रियोंमें मनकी प्रधानताका प्रतिपादन	९७७
३१२	संहारक्रमका वर्णन	९७८
३१३	अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवतका वर्णन तथा सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके लक्षण	९८०
३१४	सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृतिके मनुष्योंकी गतिका वर्णन तथा राजा जनकके प्रश्न	९८१
३१५	प्रकृति-पुरुषका विवेक और उसका फल	९८३
३१६	योगका वर्णन और उसके साधनसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति	९८४
३१७	विभिन्न अंगोंसे प्राणोंके उत्क्रमणका फल तथा मृत्युसूचक लक्षणोंका वर्णन और मृत्युको जीतनेका उपाय	९८७
३१८	याज्ञवल्क्यद्वारा अपनेको सूर्यसे वेदज्ञानकी प्राप्तिका प्रसंग सुनाना, विश्वावसुको जीवात्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानका उपदेश देकर उसका फल मुक्ति बताना तथा जनकको उपदेश देकर विदा होना	९८९
३१९	जरा-मृत्युका उल्लंघन करनेके विषयमें पंचशिख और राजा जनकका संवाद	९९८
३२०	राजा जनककी परीक्षा करनेके लिये आयी हुई सुलभाका उनके शरीरमें प्रवेश करना, राजा जनकका उसपर दोषारोपण करना एवं सुलभाका युक्तियोंद्वारा निराकरण करते हुए राजा जनकको अज्ञानी बताना	१०००
३२१	व्यासजीका अपने पुत्र शुकदेवको वैराग्य और धर्मपूर्ण उपदेश देते हुए सावधान करना	१०१४
३२२	शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम कर्ताको अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन	१०२२
३२३	व्यासजीकी पुत्रप्राप्तिके लिये तपस्या और भगवान् शंकरसे वरप्राप्ति	१०२३
३२४	शुकदेवजीकी उत्पत्ति और उनके यज्ञोपवीत, वेदाध्ययन एवं समावर्तन-संस्कारका वृत्तान्त	१०२५
३२५	पिताकी आज्ञासे शुकदेवजीका मिथिलामें जाना और वहाँ उनका द्वारपाल, मन्त्री और युवती स्त्रियोंके द्वारा सत्कृत होनेके उपरान्त ध्यानमें स्थित हो जाना	१०२७
३२६	राजा जनकके द्वारा शुकदेवजीका पूजन तथा उनके प्रश्नका समाधान करते हुए ब्रह्मचर्याश्रममें परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद अन्य तीनों आश्रमोंकी अनावश्यकताका प्रतिपादन करना तथा मुक्त पुरुषके लक्षणोंका वर्णन	१०३१
३२७	शुकदेवजीका पिताके पास लौट आना तथा व्यासजीका अपने शिष्योंको स्वाध्यायकी विधि बताना	१०३६
३२८	शिष्योंके जानेके बाद व्यासजीके पास नारदजीका आगमन और व्यासजीको वेदपाठके लिये प्रेरित करना तथा व्यासजीका शुकदेवको अनध्यायका कारण बताते हुए 'प्रवह' आदि सात वायुओंका परिचय देना	१०३९
३२९	शुकदेवजीको नारदजीका वैराग्य और ज्ञानका उपदेश	१०४३
३३०	शुकदेवका नारदजीका सदाचार और अध्यात्मविषयक उपदेश	१०४९
३३१	नारदजीका शुकदेवको कर्मफल-प्राप्तिमें परतन्त्रताविषयक उपदेश तथा शुकदेवजीका सूर्यलोकमें जानेका निश्चय	१०५१
३३२	शुकदेवजीकी ऊर्ध्वगतिका वर्णन	१०५६
३३३	शुकदेवजीकी परमपद-प्राप्ति तथा पुत्र-शोकसे व्याकुल व्यासजीको महादेवजीका आश्वासन देना	१०५८
३३४	बदरिकाश्रममें नारदजीके पूछनेपर भगवान् नारायणका परमदेव परमात्माको ही सर्वश्रेष्ठ पूजनीय बताना	१०६१

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
३३५	नारदजीका श्वेतद्वीपदर्शन, वहाँके निवासियोंके स्वरूपका वर्णन, राजा उपरिचरका चरित्र तथा पांचरात्रकी उत्पत्तिका प्रसंग	१०६५
३३६	राजा उपरिचरके यज्ञमें भगवान्‌पर बृहस्पतिका क्रोधित होना, एकत आदि मुनियोंका बृहस्पतिसे श्वेतद्वीप एवं भगवान्‌की महिमाका वर्णन करके उनको शान्त करना	१०६९
३३७	यज्ञमें आहुतिके लिये अजका अर्थ अन्न है, बकरा नहीं—इस बातको जानते हुए भी पक्षपात करनेके कारण राजा उपरिचरके अधःपतनकी और भगवत्कृपासे उनके पुनरुत्थानकी कथा	१०७४
३३८	नारदजीका दो सौ नामोंद्वारा भगवान्‌की स्तुति करना	१०७७
३३९	श्वेतद्वीपमें नारदजीको भगवान्‌का दर्शन, भगवान्‌का वासुदेव-संकर्षण आदि अपने व्यूहस्वरूपोंका परिचय कराना और भविष्यमें होनेवाले अवतारोंके कार्योंकी सूचना देना और इस कथाके श्रवण-पठनका माहात्म्य	१०७९
३४०	व्यासजीका अपने शिष्योंको भगवान्‌द्वारा ब्रह्मादि देवताओंसे कहे हुए प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप धर्मके उपदेशका रहस्य बताना	१०९०
३४१	भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको अपने प्रभावका वर्णन करते हुए अपने नामोंकी व्युत्पत्ति एवं माहात्म्य बताना	१०९८
३४२	सृष्टिकी प्रारम्भिक अवस्थाका वर्णन, ब्राह्मणोंकी महिमा बतानेवाली अनेक प्रकारकी संक्षिप्त कथाओंका उल्लेख, भगवन्नामोंके हेतु तथा रुद्रके साथ होनेवाले युद्धमें नारायणकी विजय	११०२
३४३	जनमेजयका प्रश्न, देवर्षि नारदका श्वेतद्वीपसे लौटकर नर-नारायणके पास जाना और उनके पूछनेपर उनसे वहाँके महत्त्वपूर्ण दृश्यका वर्णन करना	१११७
३४४	नर-नारायणका नारदजीकी प्रशंसा करते हुए उन्हें भगवान् वासुदेवका माहात्म्य बतलाना	११२२
३४५	भगवान् वराहके द्वारा पितरोंके पूजनकी मर्यादाका स्थापित होना	११२४
३४६	नारायणकी महिमासम्बन्धी उपाख्यानका उपसंहार	११२६
३४७	हयग्रीव-अवतारकी कथा, वेदोंका उद्धार, मधुकैटभका वध तथा नारायणकी महिमाका वर्णन	११२८
३४८	सात्वत-धर्मकी उपदेश-परम्परा तथा भगवान्‌के प्रति ऐकान्तिक भावकी महिमा	११३५
३४९	व्यासजीका सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान् नारायणके अंशसे सरस्वतीपुत्र अपान्तरतमाके रूपमें जन्म होनेकी और उनके प्रभावकी कथा	११४१
३५०	वैजयन्त पर्वतपर ब्रह्मा और रुद्रका मिलन एवं ब्रह्माजीद्वारा परम पुरुष नारायणकी महिमाका वर्णन	११४७
३५१	ब्रह्मा और रुद्रके संवादमें नारायणकी महिमाका विशेषरूपसे वर्णन	११४९
३५२	नारदके द्वारा इन्द्रको उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणकी कथा सुनानेका उपक्रम	११५१
३५३	महापद्मपुरमें एक श्रेष्ठ ब्राह्मणके सदाचारका वर्णन और उसके घरपर अतिथिका आगमन	११५२
३५४	अतिथिद्वारा स्वर्गके विभिन्न मार्गोंका कथन	११५३
३५५	अतिथिद्वारा नागराज पद्मनाभके सदाचार और सद्गुणोंका वर्णन तथा ब्राह्मणको उसके पास जानेके लिये प्रेरणा	११५४
३५६	अतिथिके वचनोंसे संतुष्ट होकर ब्राह्मणका उसके कथनानुसार नागराजके घरकी ओर प्रस्थान	११५५
३५७	नागपत्नीके द्वारा ब्राह्मणका सत्कार और वार्तालापके बाद ब्राह्मणके द्वारा नागराजके आगमनकी प्रतीक्षा	११५७
३५८	नागराजके दर्शनके लिये ब्राह्मणकी तपस्या तथा नागराजके परिवारवालोंका भोजनके लिये ब्राह्मणसे आग्रह करना	११५८
३५९	नागराजका घर लौटना, पत्नीके साथ उनकी धर्मविषयक बातचीत तथा पत्नीका उनसे ब्राह्मणको दर्शन देनेके लिये अनुरोध	११५९

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
३६०-	पत्नीके धर्मयुक्त वचनोंसे नागराजके अभिमान एवं रोषका नाश और उनका ब्राह्मणको दर्शन देनेके लिये उद्यत होना	११६०
३६१-	नागराज और ब्राह्मणका परस्पर मिलन तथा बातचीत	११६२
३६२-	नागराजका ब्राह्मणके पूछनेपर सूर्यमण्डलकी आश्चर्यजनक घटनाओंको सुनाना	११६३
३६३-	उञ्छ एवं शिलवृत्तिसे सिद्ध हुए पुरुषकी दिव्य गति	११६५
३६४-	ब्राह्मणका नागराजसे बातचीत करके और उञ्छव्रतके पालनका निश्चय करके अपने घरको जानेके लिये नागराजसे विदा माँगना	११६६
३६५-	नागराजसे विदा ले ब्राह्मणका च्यवनमुनिसे उञ्छवृत्तिकी दीक्षा लेकर साधनपरायण होना और इस कथाकी परम्पराका वर्णन	११६७

चित्र-सूची

[सादा]

१-	सुवर्णमय पक्षीके रूपमें देवराज इन्द्रका संन्यासी बने हुए ब्राह्मण-बालकोंको उपदेश	४२	१४-	इन्द्रको पहचाननेपर काश्यपद्वारा उनकी पूजा	५५२
२-	स्वयं श्रीकृष्ण शोकमग्न युधिष्ठिरको समझा रहे हैं	८८	१५-	महर्षि भृगुके साथ भरद्वाज मुनिका प्रश्नोत्तर	५५८
३-	ध्यानमग्न श्रीकृष्णसे युधिष्ठिर प्रश्न कर रहे हैं	१३७	१६-	जापक ब्राह्मण एवं महाराज इक्ष्वाकुकी ऊर्ध्वगति	६०८
४-	भगवान् श्रीकृष्णका देवर्षि नारद एवं पाण्डवोंको लेकर शरशय्यास्थित भीष्मके निकट गमन	१६७	१७-	प्रजापति मनु एवं महर्षि बृहस्पतिका संवाद	६११
५-	राजासे हीन प्रजाकी ब्रह्माजीसे राजाके लिये प्रार्थना	१८५	१८-	भगवान् वराहकी ऋषियोंद्वारा स्तुति	६३५
६-	राजा वेनके बाहु-मन्थनसे महाराज पृथुका प्राकट्य	१९१	१९-	महर्षि पञ्चशिखका महाराज जनकको उपदेश	६६४
७-	राजा क्षेमदर्शी और कालकवृक्षीय मुनि	२६२	२०-	देवर्षि एवं देवराजको भगवती लक्ष्मीका दर्शन	७१४
८-	राजर्षि जनक अपने सैनिकोंको स्वर्ग और नरककी बात कह रहे हैं	३१२	२१-	मुनि जाजलिकी तपस्या	७९४
९-	कालकवृक्षीय मुनि राजा जनकका राजकुमार क्षेमदर्शीके साथ मेल करा रहे हैं	३३५	२२-	चिरकारी शस्त्र त्यागकर अपने पिताको प्रणाम कर रहे हैं	८१२
१०-	समुद्र देवताका मूर्तिमती नदियोंके साथ संवाद	३५७	२३-	सनकादि महर्षियोंकी शुक्राचार्य एवं वृत्रासुरसे भेंट	८५३
११-	चूहेकी सहायताके फलस्वरूप चाण्डालके जालसे बिलावकी मुक्ति	४२४	२४-	दक्षके यज्ञमें शिवजीका प्राकट्य	८७८
१२-	मरे हुए ब्राह्मण-बालकपर तथा गीध एवं गीदड़पर शंकरजीकी कृपा	४८३	२५-	साध्यगणोंको हंसरूपमें ब्रह्माजीका उपदेश	९३१
१३-	काश्यप ब्राह्मणके प्रति गीदड़के रूपमें इन्द्रका उपदेश	५५२	२६-	महर्षि वसिष्ठका राजा कराल जनकको उपदेश	९५०
			२७-	महर्षि याज्ञवल्क्यके स्मरणसे देवी सरस्वतीका प्राकट्य	९९१
			२८-	राजा जनकके द्वार शुकदेवजीका पूजन	१०३२
			२९-	शुकदेवजीको नारदजीका उपदेश	१०४४
			३०-	नर-नारायणका नारदजीके साथ संवाद	१०६३
			३१-	(१६ लाइन चित्र फरमोंमें)	

कृष्णत्रय (श्रीकृष्ण, अर्जुन और वेदव्यास) का स्तवन

यज्ज्योतिस्तमसः परं महदहो निर्माय रूपाणि त-
न्नामानि प्रविभज्य च व्यवहरत्येतैर्गुहायां गतम्।
आनन्दैकरसं तदद्वयमथो तन्मायया देवकी-
कुन्तीसत्यवतीषु जन्म धृतवत् कृष्णत्रयं पातु नः॥

जो अज्ञानान्धकारसे परे, चिन्मय ज्योतिःस्वरूप तथा महद् ब्रह्मरूप हैं, जो अपने ही अनेक रूपोंका निर्माण करके उनके भिन्न-भिन्न नाम रखकर उन सबके द्वारा यथायोग्य व्यवहार करते हैं तथा जो 'अन्तर्यामी आत्मा' रूपसे सबकी हृदय-गुफामें स्थित, आनन्दैकरसस्वरूप और द्वैतरहित हैं; वे मायाद्वारा देवकी, कुन्ती तथा सत्यवतीके गर्भसे प्रकट हुए तीन कृष्ण (श्रीकृष्ण, अर्जुन और वेदव्यास) हमलोगोंकी रक्षा करें।

~~○~~

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीमहाभारतम्

शान्तिपर्व

राजधर्मानुशासनपर्व

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पास नारद आदि महर्षियोंका आगमन और युधिष्ठिरका कर्णके साथ अपना सम्बन्ध बताते हुए कर्णको शाप मिलनेका वृत्तान्त पूछना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

वैशम्पायन उवाच

कृतोदकास्ते सुहृदां सर्वेषां पाण्डुनन्दनाः।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च सर्वाश्च भरतस्त्रियः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पाण्डव, विदुर, धृतराष्ट्र तथा भरतवंशकी सम्पूर्ण स्त्रियाँ—इन सबने गंगाजीमें अपने समस्त सुहृदोंके लिये जलांजलियाँ प्रदान कीं॥ १॥

तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन् पाण्डुनन्दनाः।
शौचं निवर्तयिष्यन्तो मासमात्रं बहिः पुरात्॥ २॥

तदनन्तर वे महामनस्वी पाण्डव आत्मशुद्धिका सम्पादन करनेके लिये एक मासतक वहीं (गंगातटपर) नगरसे बाहर टिके रहे॥ २॥

कृतोदकं तु राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
अभिजग्मुर्महात्मानः सिद्धा ब्रह्मर्षिसत्तमाः॥ ३॥

मृतकोंके लिये जलांजलि देकर बैठे हुए धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास बहुतसे श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि सिद्ध महात्मा पधारे॥ ३॥

द्वैपायनो नारदश्च देवलश्च महानृषिः।
देवस्थानश्च कण्वश्च तेषां शिष्याश्च सत्तमाः॥ ४॥

द्वैपायन व्यास, नारद, महर्षि देवल, देवस्थान, कण्व तथा उनके श्रेष्ठ शिष्य भी वहाँ आये थे॥ ४॥

अन्ये च वेदविद्वांसः कृतप्रज्ञा द्विजातयः।
गृहस्थाः स्नातकाः सन्तो ददृशुः कुरुसत्तमम्॥ ५॥

इनके अतिरिक्त अनेक वेदवेत्ता एवं पवित्र बुद्धिवाले ब्राह्मण, गृहस्थ एवं स्नातक संत भी वहाँ आकर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे मिले॥ ५॥

तेऽभिगम्य महात्मानः पूजिताश्च यथाविधि।
आसनेषु महार्हेषु विविशुस्ते महर्षयः॥ ६॥

वे महात्मा महर्षि वहाँ पहुँचकर विधिपूर्वक पूजित हो राजाके दिये हुए बहुमूल्य आसनोंपर विराजमान हुए॥ ६॥

प्रतिगृह्य ततः पूजां तत्कालसदृशीं तदा।
पर्युपासन् यथान्यायं परिवार्य युधिष्ठिरम्॥ ७॥
पुण्ये भागीरथीतीरे शोकव्याकुलचेतसम्।
आश्वासयन्तो राजानं विप्राः शतसहस्रशः॥ ८॥

उस समयके अनुरूप पूजा स्वीकार करके वे सैकड़ों हजारों ब्रह्मर्षि भागीरथीके पावन तटपर शोकसे व्याकुलचित्त हुए राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर आश्वासन देते हुए यथोचितरूपसे उनके पास बैठे रहे॥ ७-८॥

नारदस्त्वब्रवीत् काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
सम्भाष्य मुनिभिः सार्धं कृष्णद्वैपायनादिभिः॥ ९॥

उस समय श्रीकृष्णद्वैपायन आदि मुनियोंके साथ बातचीत करके सबसे पहले नारदजीने धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे कहा—॥ ९॥

भवता बाहुवीर्येण प्रसादान्माधवस्य च।
जितेयमवनिः कृत्स्ना धर्मेण च युधिष्ठिर॥ १०॥

महाराज युधिष्ठिर! आपने अपने बाहुबल, भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा तथा धर्मके प्रभावसे इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर विजय पायी है॥ १०॥

दिष्ट्या मुक्तस्तु संग्रामादस्माल्लोकभयंकरात्।
क्षत्रधर्मरतश्चापि कच्चिन्मोदसि पाण्डव॥ ११॥

'पाण्डुनन्दन! सौभाग्यकी बात है कि आप सम्पूर्ण जगत्‌को भयमें डालनेवाले इस संग्रामसे छुटकारा पा गये। अब क्षत्रियधर्मके पालनमें तत्पर रहकर आप प्रसन्न तो हैं न?॥ ११॥

कच्चिच्च निहतामित्रः प्रीणासि सुहृदो नृप।
कच्चिच्छ्रियमिमां प्राप्य न त्वां शोकः प्रबाधते॥ १२॥

'नरेश्वर! आपके शत्रु तो मारे जा चुके। अब आप अपने सुहृदोंको तो प्रसन्न रखते हैं न? इस राज्यलक्ष्मीको पाकर आपको कोई शोक तो नहीं सता रहा है?'॥ १२॥

युधिष्ठिर उवाच

विजितेयं मही कृत्स्ना कृष्णबाहुबलाश्रयात्।
ब्राह्मणानां प्रसादेन भीमार्जुनबलेन च॥ १३॥

युधिष्ठिर बोले—मुने! भगवान् श्रीकृष्णके बाहुबलका आश्रय लेनेसे ब्राह्मणोंकी कृपा होनेसे तथा भीमसेन और अर्जुनके बलसे इस सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त हुई॥ १३॥

इदं मम महद् दुःखं वर्तते हृदि नित्यदा।
कृत्वा ज्ञातिक्षयमिमं महान्तं लोभकारितम्॥ १४॥

परन्तु मेरे हृदयमें निरन्तर यह महान् दुःख बना रहता है कि मैंने लोभवश अपने बन्धु-बान्धवोंका महान् संहार करा डाला॥ १४॥

सौभद्रं द्रौपदेयांश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान्।
जयोऽयमजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे॥ १५॥

भगवन्! सुभद्राकुमार अभिमन्यु तथा द्रौपदीके प्यारे पुत्रोंको मरवाकर मिली हुई यह विजय भी मुझे पराजय-सी ही जान पड़ती है॥ १५॥

किं नु वक्ष्यति वार्ष्णेयी वधूर्मे मधुसूदनम्।
द्वारकावासिनी कृष्णमितः प्रतिगतं हरिम्॥ १६॥

वृष्णिकुलकी कन्या मेरी बहू सुभद्रा, जो इस समय द्वारकामें रहती है, जब मधुसूदन श्रीकृष्ण यहाँसे लौटकर द्वारका जायँगे, तब इनसे क्या कहेगी?॥ १६॥

द्रौपदी हतपुत्रेयं कृपणा हतबान्धवा।
अस्मत्प्रियहिते युक्ता भूयः पीडयतीव माम्॥ १७॥

यह द्रुपदकुमारी कृष्णा अपने पुत्रोंके मारे जानेसे अत्यन्त दीन हो गयी है। इस बेचारीके भाई-बन्धु भी मार डाले गये। यह हमलोगोंके प्रिय और हितमें सदा लगी रहती है। मैं जब-जब इसकी ओर देखता हूँ तब-तब मेरे मनमें अधिक-से-अधिक पीड़ा होने लगती है॥

इदमन्यत् तु भगवन् यत् त्वां वक्ष्यामि नारद।
मन्त्रसंवरणेनास्मि कुन्त्या दुःखेन योजितः॥ १८॥

भगवन् नारद! यह दूसरी बात जो मैं आपसे बता रहा हूँ और भी दुःख देनेवाली है। मेरी माता कुन्तीने कर्णके जन्मका रहस्य छिपाकर मुझे बड़े भारी दुःखमें डाल दिया है॥ १८॥

यः स नागायुतबलो लोकेऽप्रतिरथो रणे।
सिंहखेलगतिर्धीमान् घृणी दाता यतव्रतः॥ १९॥
आश्रयो धार्तराष्ट्राणां मानी तीक्ष्णपराक्रमः।
अमर्षी नित्यसंरम्भी क्षेप्तास्माकं रणे रणे॥ २०॥
शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च कृती चाद्भुतविक्रमः।
गूढोत्पन्नः सुतः कुन्त्या भ्रातास्माकमसौ किल॥ २१॥

जिनमें दस हजार हाथियोंका बल था, संसारमें जिनका सामना करनेवाला दूसरा कोई भी महारथी नहीं था, जो रणभूमिमें सिंहके समान खेलते हुए विचरते थे, जो बुद्धिमान्, दयालु, दाता, सयंमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले और धृतराष्ट्रपुत्रोंके आश्रय थे; अभिमानी, तीव्रपराक्रमी, अमर्षशील, नित्य रोषमें भरे रहनेवाले तथा प्रत्येक युद्धमें हमलोगोंपर अस्त्रों एवं वाग्बाणोंका प्रहार करनेवाले थे, जिनमें विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेकी कला थी, जो शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले, धनुर्वेदके विद्वान् तथा अद्भुत पराक्रम कर दिखानेवाले थे, वे कर्ण गुप्तरूपसे उत्पन्न हुए कुन्तीके पुत्र और हमलोगोंके बड़े भाई थे; यह बात हमारे सुननेमें आयी है॥ १९—२१॥

तोयकर्मणि तं कुन्ती कथयामास सूर्यजम्।
पुत्रं सर्वगुणोपेतमवकीर्णं जले पुरा॥ २२॥

जलदान करते समय स्वयं माता कुन्तीने यह रहस्य बताया था कि कर्ण भगवान् सूर्यके अंशसे उत्पन्न हुआ मेरा ही सर्वगुणसम्पन्न पुत्र रहा है, जिसे मैंने पहले पानीमें बहा दिया था॥ २२॥

मञ्जूषायां समाधाय गङ्गास्रोतस्यमज्जयत्।
यं सूतपुत्रं लोकोऽयं राधेयं चाभ्यमन्यत॥ २३॥
स ज्येष्ठपुत्रः कुन्त्या वै भ्रातास्माकं च मातृजः।

नारदजी! मेरी माता कुन्तीने कर्णको जन्मके पश्चात् एक पेटीमें रखकर गङ्गाजीकी धारामें बहाया था। जिन्हें यह सारा संसार अबतक अधिरथ सूत एवं राधाका पुत्र समझता था, वे कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र और हमलोगोंके सहोदर भाई थे॥ २३½॥

अजानता मया भ्रात्रा राज्यलुब्धेन घातितः॥ २४॥
तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः।

मैंने अनजानमें राज्यके लोभमें आकर भाईके हाथसे ही भाईका वध करा दिया। इस बातकी चिन्ता

मेरे अंगोंको उसी प्रकार जला रही है, जैसे आग रूईके ढेरको भस्म कर देती है॥ २४½ ॥

न हि तं वेद पार्थोऽपि भ्रातरं श्वेतवाहनः॥ २५॥
नाहं न भीमो न यमौ स त्वस्मान् वेद सुव्रतः।

कुन्तीनन्दन श्वेतवाहन अर्जुन भी उन्हें भाईके रूपमें नहीं जानते थे। मुझको, भीमसेनको तथा नकुल-सहदेवको भी इस बातका पता नहीं था; किंतु उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कर्ण हमें अपने भाईके रूपमें जानते थे॥ २५½ ॥

गता किल पृथा तस्य सकाशमिति नः श्रुतम्॥ २६॥
अस्माकं शमकामा वै त्वं च पुत्रो ममेत्यथ।
पृथाया न कृतः कामस्तेन चापि महात्मना॥ २७॥

सुननेमें आया है कि मेरी माता कुन्ती हमलोगोंमें संधि करानेकी इच्छासे उनके पास गयी थीं और उन्हें बताया था कि 'तुम मेरे पुत्र हो।' परन्तु महामनस्वी कर्णने माता कुन्तीकी यह इच्छा पूरी नहीं की॥ २६-२७॥

अपि पश्चादिदं मातर्यवोचदिति नः श्रुतम्।
न हि शक्ष्याम्यहं त्यक्तुं नृपं दुर्योधनं रणे॥ २८॥
अनार्यत्वं नृशंसत्वं कृतघ्नत्वं च मे भवेत्।

हमने यह भी सुना है कि उन्होंने पीछे माता कुन्तीको यह जवाब दिया कि 'मैं युद्धके समय राजा दुर्योधनका साथ नहीं छोड़ सकता; क्योंकि ऐसा करनेसे मेरी नीचता, क्रूरता और कृतघ्नता सिद्ध होगी॥ २८½ ॥

युधिष्ठिरेण संधिं हि यदि कुर्यां मते तव॥ २९॥
भीतो रणे श्वेतवाहादिति मां मंस्यते जनः।

'माताजी! यदि तुम्हारे मतके अनुसार मैं इस समय युधिष्ठिरके साथ संधि कर लूँ तो सब लोग यही समझेंगे कि 'कर्ण युद्धमें अर्जुनसे डर गया'॥ २९½ ॥

सोऽहं निर्जित्य समरे विजयं सहकेशवम्॥ ३०॥
संधास्ये धर्मपुत्रेण पश्चादिति च सोऽब्रवीत्।

'अतः मैं पहले समरांगणमें श्रीकृष्णसहित अर्जुनको परास्त करके पीछे धर्मपुत्र युधिष्ठिरके साथ संधि करूँगा' ऐसी बात उन्होंने कही॥ ३०½ ॥

तमुवाच किल पृथा पुनः पृथुलवक्षसम्॥ ३१॥
चतुर्णामभयं देहि कामं युध्यस्व फाल्गुनम्।

तब कुन्तीने चौड़ी छातीवाले कर्णसे फिर कहा—'बेटा! तुम इच्छानुसार अर्जुनसे युद्ध करो; किंतु अन्य चार भाइयोंको अभय दे दो'॥ ३१½ ॥

सोऽब्रवीन्मातरं धीमान् वेपमानां कृताञ्जलिः॥ ३२॥
प्राप्तान् विषह्यांश्चतुरो न हनिष्यामि ते सुतान्।
पञ्चैव हि सुता देवि भविष्यन्ति तव ध्रुवाः॥ ३३॥
सार्जुना वा हते कर्णे सकर्णा वा हतेऽर्जुने।

इतना कहकर माता कुन्ती थर्थर काँपने लगीं। तब बुद्धिमान् कर्णने हाथ जोड़कर मातासे कहा—'देवि! तुम्हारे चार पुत्र मेरे वशमें आ जायँगे तो भी मैं उनका वध नहीं करूँगा। तुम्हारे पाँच पुत्र निश्चित रूपसे बने रहेंगे। यदि कर्ण मारा गया तो अर्जुनसहित तुम्हारे पाँच पुत्र होंगे और यदि अर्जुन मारे गये तो वे कर्णसहित पाँच होंगे'॥ ३२-३३½ ॥

तं पुत्रगृद्धिनी भूयो माता पुत्रमथाब्रवीत्॥ ३४॥
भ्रातॄणां स्वस्ति कुर्वीथा येषां स्वस्ति चिकीर्षसि।
एवमुक्त्वा किल पृथा विसृज्योपययौ गृहान्॥ ३५॥

तब पुत्रोंका हित चाहनेवाली माताने पुनः अपने ज्येष्ठ पुत्रसे कहा—'बेटा! तुम जिन चारों भाइयोंका कल्याण करना चाहते हो, उनका अवश्य भला करना' ऐसा कहकर माता कर्णको छोड़कर घर लौट आयीं॥ ३४-३५॥

सोऽर्जुनेन हतो वीरो भ्रात्रा भ्राता सहोदरः।
न चैव विवृतो मन्त्रः पृथायास्तस्य वा विभो॥ ३६॥

उस वीर सहोदर भाईको भाई अर्जुनने मार डाला। प्रभो! इस गुप्त रहस्यको न तो माता कुन्तीने प्रकट किया और न कर्णने ही॥ ३६॥

अथ शूरो महेष्वासः पार्थेनाजौ निपातितः।
अहं त्वज्ञासिषं पश्चात् स्वसोदर्यं द्विजोत्तम॥ ३७॥
पूर्वजं भ्रातरं कर्णं पृथाया वचनात् प्रभो।
तेन मे दूयते तीव्रं हृदयं भ्रातृघातिनः॥ ३८॥

द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर युद्धस्थलमें महाधनुर्धर शूरवीर कर्ण अर्जुनके हाथसे मारे गये। प्रभो! मुझे तो माता कुन्तीके ही कहनेसे बहुत पीछे यह बात मालूम हुई है कि 'कर्ण हमारे ज्येष्ठ एवं सहोदर भाई थे।' मैंने भाई की हत्या करायी है; इसलिये मेरे हृदयको तीव्र वेदना हो रही है॥ ३७-३८॥

कर्णार्जुनसहायोऽहं जयेयमपि वासवम्।
सभायां क्लिश्यमानस्य धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः॥ ३९॥
सहसोत्पतितः क्रोधः कर्णं दृष्ट्वा प्रशाम्यति।

कर्ण और अर्जुनकी सहायता पाकर तो मैं देवराज इन्द्रको भी जीत सकता था। कौरवसभामें जब दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने मुझे बहुत क्लेश पहुँचाया, तब सहसा मेरे हृदयमें क्रोध प्रकट हो गया; परंतु कर्णको देखकर वह शान्त हो गया॥ ३९½ ॥

यदा ह्यस्य गिरो रूक्षाः शृणोमि कटुकोदयाः॥ ४०॥
सभायां गदतो द्यूते दुर्योधनहितैषिणः।
तदा नश्यति मे रोषः पादौ तस्य निरीक्ष्य ह॥ ४१॥

जब द्यूतसभामें दुर्योधनके हितकी इच्छासे वे

बोलने लगते और मैं उनकी कड़वी एवं रूखी बातें सुनता, उस समय उनके पैरोंको देखकर मेरा बढ़ा हुआ रोष शान्त हो जाता था॥ ४०-४१॥

कुन्त्या हि सदृशौ पादौ कर्णस्येति मतिर्मम।
सादृश्यहेतुमन्विच्छन् पृथायास्तस्य चैव ह॥ ४२॥
कारणं नाधिगच्छामि कथंचिदपि चिन्तयन्।

मेरा विश्वास है कि कर्णके दोनों पैर माता कुन्तीके चरणोंके सदृश थे। कुन्ती और कर्णके पैरोंमें इतनी समानता क्यों है? इसका कारण ढूँढ़ता हुआ मैं बहुत सोचता-विचारता; परंतु किसी तरह कोई कारण नहीं समझ पाता था॥ ४२½॥

कथं नु तस्य संग्रामे पृथिवी चक्रमग्रसत्॥ ४३॥
कथं नु शप्तो भ्राता मे तत्त्वं वक्तुमिहार्हसि।

नारदजी! संग्राममें कर्णके पहियेको पृथ्वी क्यों निगल गयी और मेरे बड़े भाई कर्णको कैसे यह शाप प्राप्त हुआ? इसे आप ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें॥ ४३½॥

श्रोतुमिच्छामि भगवंस्त्वत्तः सर्वं यथातथम्।
भवान् हि सर्वविद् विद्वान् लोके वेद कृताकृतम्॥ ४४॥

भगवन्! मैं आपसे यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप सर्वज्ञ विद्वान् हैं और लोकमें जो भूत और भविष्य कालकी घटनाएँ हैं, उन सबको जानते हैं॥ ४४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णाभिज्ञाने प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णकी पहचानविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ॥ १॥

~~○~~

द्वितीयोऽध्यायः

नारदजीका कर्णको शाप प्राप्त होनेका प्रसंग सुनाना

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तस्तु मुनिर्नारदो वदतां वरः।
कथयामास तत् सर्वं यथा शप्तः स सूतजः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारदमुनिने सूतपुत्र कर्णको जिस प्रकार शाप प्राप्त हुआ था, वह सब प्रसंग कह सुनाया॥ १॥

नारद उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
न कर्णार्जुनयोः किंचिदविषह्यं भवेद् रणे॥ २॥

नारदजीने कहा—महाबाहु भरतनन्दन! तुम जैसा कह रहे हो, ठीक ऐसी ही बात है। वास्तवमें कर्ण और अर्जुनके लिये युद्धमें कुछ भी असाध्य नहीं हो सकता था॥ २॥

गुह्यमेतत् तु देवानां कथयिष्यामि तेऽनघ।
तन्निबोध महाबाहो यथा वृत्तमिदं पुरा॥ ३॥

अनघ! यह देवताओंकी गुप्त बात है जिसको मैं तुम्हें बता रहा हूँ। महाबाहो! पूर्वकालके इस यथावत् वृत्तान्तको तुम ध्यान देकर सुनो॥ ३॥

क्षत्रं स्वर्गं कथं गच्छेच्छस्त्रपूतमिति प्रभो।
संघर्षजननस्तस्मात् कन्यागर्भो विनिर्मितः॥ ४॥

प्रभो! एक समय देवताओंने यह विचार किया कि कौन-सा ऐसा उपाय हो, जिससे भूमण्डलका सारा क्षत्रिय-समुदाय शस्त्रोंके आघातसे पवित्र हो स्वर्गलोकमें पहुँच जाय। यह सोचकर उन्होंने सूर्यद्वारा कुमारी कुन्तीके गर्भसे एक तेजस्वी बालक उत्पन्न कराया, जो संघर्षका जनक हुआ॥ ४॥

स बालस्तेजसा युक्तः सूतपुत्रत्वमागतः।
चकाराङ्गिरसां श्रेष्ठाद् धनुर्वेदं गुरोस्तदा॥ ५॥

वही तेजस्वी बालक सूतपुत्रके रूपमें प्रसिद्ध हुआ। उसने अंगिरागोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ गुरु द्रोणाचार्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की॥ ५॥

स बलं भीमसेनस्य फाल्गुनस्य च लाघवम्।
बुद्धिं च तव राजेन्द्र यमयोर्विनयं तदा॥ ६॥
सख्यं च वासुदेवेन बाल्ये गाण्डीवधन्वनः।
प्रजानामनुरागं च चिन्तयानो व्यदह्यत॥ ७॥

राजेन्द्र! वह भीमसेनका बल, अर्जुनकी फुर्ती, आपकी बुद्धि, नकुल और सहदेवकी विनय, गाण्डीवधारी अर्जुनकी श्रीकृष्णके साथ बचपनमें ही मित्रता तथा पाण्डवोंपर प्रजाका अनुराग देखकर चिन्तामग्न हो जलता रहता था॥ ६-७॥

स सख्यमकरोद् बाल्ये राज्ञा दुर्योधनेन च।
युष्माभिर्नित्यसंद्विष्टो दैवाच्चापि स्वभावतः॥ ८॥

इसीलिये उसने बाल्यावस्थामें ही राजा दुर्योधनके साथ मित्रता स्थापित कर ली और दैवकी प्रेरणासे तथा स्वभाववश भी वह आपलोगोंके साथ सदा द्वेष रखने लगा॥

वीर्याधिकमथालक्ष्य धनुर्वेदे धनंजयम्।
द्रोणं रहस्युपागम्य कर्णो वचनमब्रवीत्॥ ९॥

एक दिन अर्जुनको धनुर्वेदमें अधिक शक्तिशाली देख कर्णने एकान्तमें द्रोणाचार्यके पास जाकर कहा॥ ९॥

ब्रह्मास्त्रं वेत्तुमिच्छामि सरहस्यनिवर्तनम्।
अर्जुनेन समं चाहं युध्येयमिति मे मतिः॥ १०॥
समः शिष्येषु वः स्नेहः पुत्रे चैव तथा ध्रुवम्।
त्वत्प्रसादान्न मां ब्रूयुरकृतास्त्रं विचक्षणाः॥ ११॥

'गुरुदेव! मैं ब्रह्मास्त्रको उसके छोड़ने और लौटानेके रहस्यसहित जानना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं अर्जुनके साथ युद्ध करूँ। निश्चय ही आपका सभी शिष्यों और पुत्रपर बराबर स्नेह है। आपकी कृपासे विद्वान् पुरुष यह न कहें कि यह सभी अस्त्रोंका ज्ञाता नहीं है'॥ १०-११॥

द्रोणस्तथोक्तः कर्णेन सापेक्षः फाल्गुनं प्रति।
दौरात्म्यं चैव कर्णस्य विदित्वा तमुवाच ह॥ १२॥

कर्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनके प्रति पक्षपात रखनेवाले द्रोणाचार्य कर्णकी दुष्टताको समझकर उससे बोले—॥ १२॥

ब्रह्मास्त्रं ब्राह्मणो विद्याद् यथावच्चरितव्रतः।
क्षत्रियो वा तपस्वी यो नान्यो विद्यात् कथंचन॥ १३॥

'वत्स! ब्रह्मास्त्रको ठीक-ठीक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण जान सकता है अथवा तपस्वी क्षत्रिय। दूसरा कोई किसी तरह इसे नहीं सीख सकता'॥ १३॥

इत्युक्तोऽङ्गिरसां श्रेष्ठमामन्त्र्य प्रतिपूज्य च।
जगाम सहसा रामं महेन्द्रं पर्वतं प्रति॥ १४॥

उनके ऐसा कहने पर अंगिरागोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यकी आज्ञा ले उनका यथोचित सम्मान करके कर्ण सहसा महेन्द्र पर्वतपर परशुरामजीके पास चला गया॥ १४॥

स तु राममुपागम्य शिरसाभिप्रणम्य च।
ब्राह्मणो भार्गवोऽस्मीति गौरवेणाभ्यगच्छत॥ १५॥

परशुरामजीके पास जाकर उसने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और 'मैं भृगुवंशी ब्राह्मण हूँ' ऐसा कहकर उसने गुरुभावसे उनकी शरण ली॥ १५॥

रामस्तं प्रतिजग्राह पृष्ट्वा गोत्रादि सर्वशः।
उष्यतां स्वागतं चेति प्रीतिमांश्चाभवद् भृशम्॥ १६॥

परशुरामजीने गोत्र आदि सारी बातें पूछकर उसे शिष्यभावसे स्वीकार कर लिया और कहा—'वत्स! तुम यहाँ रहो। तुम्हारा स्वागत है।' ऐसा कहकर वे मुनि उसपर बहुत प्रसन्न हुए॥ १६॥

तत्र कर्णस्य वसतो महेन्द्रे स्वर्गसंनिभे।
गन्धर्वै राक्षसैर्यक्षैर्देवैश्चासीत् समागमः॥ १७॥

स्वर्गलोकके सदृश मनोहर उस महेन्द्र पर्वतपर रहते हुए कर्णको गन्धर्वों, राक्षसों, यक्षों तथा देवताओंसे मिलनेका अवसर प्राप्त होता रहता था॥ १७॥

स तत्रेष्वस्त्रमकरोद् भृगुश्रेष्ठाद् यथाविधि।
प्रियश्चाभवदत्यर्थं देवदानवरक्षसाम्॥ १८॥

उस पर्वतपर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीसे विधिपूर्वक धनुर्वेद सीखकर कर्ण उसका अभ्यास करने लगा। वह देवताओं, दानवों एवं राक्षसोंका अत्यन्त प्रिय हो गया॥

स कदाचित् समुद्रान्ते विचरन्नाश्रमान्तिके।
एकः खड्गधनुष्पाणिः परिचक्राम सूर्यजः॥ १९॥

एक दिनकी बात है, सूर्यपुत्र कर्ण हाथमें धनुष बाण और तलवार ले समुद्रके तटपर आश्रमके पास ही अकेला टहल रहा था॥ १९॥

सोऽग्निहोत्रप्रसक्तस्य कस्यचिद् ब्रह्मवादिनः।
जघानाज्ञानतः पार्थ होमधेनुं यदृच्छया॥ २०॥

पार्थ! उस समय अग्निहोत्रमें लगे हुए किसी वेदपाठी ब्राह्मणकी होमधेनु उधर आ निकली। उसने अनजानमें उस धेनुको (हिंस्र जीव समझकर) अकस्मात् मार डाला*॥ २०॥

तदज्ञानकृतं मत्वा ब्राह्मणाय न्यवेदयत्।
कर्णः प्रसादयंश्चैनमिदमित्यब्रवीद् वचः॥ २१॥

अनजानमें यह अपराध बन गया है, ऐसा समझकर कर्णने ब्राह्मणको सारा हाल बता दिया और उसे प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहा—॥ २१॥

अबुद्धिपूर्वं भगवन् धेनुरेषा हता तव।
मया तत्र प्रसादं च कुरुष्वेति पुनः पुनः॥ २२॥

'भगवन्! मैंने अनजानमें आपकी गाय मार डाली है, अतः आप मेरा यह अपराध क्षमा करके मुझपर कृपा कीजिये,' कर्णने इस बातको बार-बार दुहराया॥ २२॥

तं स विप्रोऽब्रवीत् क्रुद्धो वाचा निर्भर्त्सयन्निव।
दुराचार वधार्हस्त्वं फलं प्राप्नुहि दुर्मते॥ २३॥

---

* कर्णपर्वमें भी यह प्रसंग आया है, वहाँ कर्णके द्वारा बछड़ेके मारे जानेका उल्लेख है; अतः यहाँ भी होमधेनुका बछड़ा ही समझना चाहिये।

येन विस्पर्धसे नित्यं यदर्थं घटसेऽनिशम्।
युध्यतस्तेन ते पाप भूमिश्चक्रं ग्रसिष्यति॥ २४॥

ब्राह्मण उसकी बात सुनते ही कुपित हो उठा और कठोर वाणीद्वारा उसे डाँटता हुआ-सा बोला—'दुराचारी! तू मार डालने योग्य है। दुर्मते! तू अपने इस पापका फल

प्राप्त कर ले। पापी! तू जिसके साथ सदा ईर्ष्या रखता है और जिसे परास्त करनेके लिये निरन्तर चेष्टा करता है, उसके साथ युद्ध करते हुए तेरे रथके पहियेको धरती निगल जायगी॥ २३-२४॥

ततश्चक्रे महीग्रस्ते मूर्धानं ते विचेतसः।
पातयिष्यति विक्रम्य शत्रुर्गच्छ नराधम॥ २५॥

'नराधम! जब पृथ्वीमें तेरा पहिया फँस जायगा और तू अचेत-सा हो रहा होगा, उस समय तेरा शत्रु पराक्रम करके तेरे मस्तकको काट गिरायेगा। अब तू चला जा॥

यथेयं गौर्हता मूढ प्रमत्तेन त्वया मम।
प्रमत्तस्य तथारातिः शिरस्ते पातयिष्यति॥ २६॥

'ओ मूढ! जैसे असावधान होकर तूने इस गौका वध किया है, उसी प्रकार असावधान-अवस्थामें ही शत्रु तेरा सिर काट डालेगा'॥ २६॥

शप्तः प्रसादयामास कर्णस्तं द्विजसत्तमम्।
गोभिर्धनैश्च रत्नैश्च स चैनं पुनरब्रवीत्॥ २७॥

इस प्रकार शाप प्राप्त होनेपर कर्णने उस श्रेष्ठ ब्राह्मणको बहुत-सी गौएँ, धन और रत्न देकर उसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा की। तब उसने फिर इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २७॥

न हि मेऽव्याहृतं कुर्यात् सर्वलोकोऽपि केवलम्।
गच्छ वा तिष्ठ वा यद् वा कार्यं ते तत् समाचर॥ २८॥

'सारा संसार आ जाय तो भी कोई मेरी बातको झूठी नहीं कर सकता। तू यहाँसे जा या खड़ा रह अथवा तुझे जो कुछ करना हो, वह कर ले'॥ २८॥

इत्युक्तो ब्राह्मणेनाथ कर्णो दैन्यादधोमुखः।
राममभ्यगमद् भीतस्तदेव मनसा स्मरन्॥ २९॥

ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर कर्णको बड़ा भय हुआ। उसने दीनतावश सिर झुका लिया। वह मन-ही-मन उस बातका चिन्तन करता हुआ परशुरामजीके पास लौट आया॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णको ब्राह्मणका शापनामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ॥ २॥

तृतीयोऽध्यायः

कर्णको ब्रह्मास्त्रकी प्राप्ति और परशुरामजीका शाप

नारद उवाच

कर्णस्य बाहुवीर्येण प्रणयेन दमेन च।
तुतोष भृगुशार्दूलो गुरुशुश्रूषया तथा॥ १॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! कर्णके बाहुबल, प्रेम, इन्द्रिय-संयम तथा गुरुसेवासे भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी बहुत संतुष्ट हुए॥ १॥

तस्मै स विधिवत् कृत्स्नं ब्रह्मास्त्रं सनिवर्तनम्।
प्रोवाचाखिलमव्यग्रं तपस्वी तत् तपस्विने॥ २॥

तदनन्तर तपस्वी परशुरामने तपस्यामें लगे हुए कर्णको शान्तभावसे प्रयोग और उपसंहार विधिसहित सम्पूर्ण ब्रह्मास्त्रकी विधिपूर्वक शिक्षा दी॥ २॥

विदितास्त्रस्ततः कर्णो रममाणोऽऽश्रमे भृगोः।
चकार वै धनुर्वेदे यत्नमद्भुतविक्रमः॥ ३॥

ब्रह्मास्त्रका ज्ञान प्राप्त करके कर्ण परशुरामजीके आश्रममें प्रसन्नतापूर्वक रहने लगा। उस अद्भुत पराक्रमी वीरने धनुर्वेदके अभ्यासके लिये बड़ा परिश्रम किया॥ ३॥

ततः कदाचिद् रामस्तु चरन्नाश्रममन्तिकात्।
कर्णेन सहितो धीमानुपवासेन कर्शितः॥ ४॥

सुष्वाप जामदग्न्यस्तु विश्रम्भोत्पन्नसौहृदः।
कर्णस्योत्सङ्ग आधाय शिरः क्लान्तमना गुरुः॥ ५॥

तत्पश्चात् एक समय बुद्धिमान् परशुरामजी कर्णके साथ अपने आश्रमके निकट ही घूम रहे थे। उपवास करनेके कारण उनका शरीर दुर्बल हो गया था। कर्णके ऊपर उनका पूरा विश्वास होनेके कारण उसके प्रति सौहार्द हो गया था। वे मन-ही-मन थकावटका अनुभव करते थे, इसलिये गुरुवर जमदग्निनन्दन परशुरामजी कर्णकी गोदमें सिर रखकर सो गये॥ ४-५॥

अथ कृमिः श्लेष्ममेदोमांसशोणितभोजनः।
दारुणो दारुणस्पर्शः कर्णस्याभ्याशमागतः॥ ६॥

इसी समय लार, मेदा, मांस और रक्तका आहार करनेवाला एक भयानक कीड़ा, जिसका स्पर्श (डंक मारना) बड़ा भयंकर था, कर्णके पास आया॥ ६॥

स तस्योरुमथासाद्य बिभेद रुधिराशनः।
न चैनमशकत् क्षेप्तुं हन्तुं वापि गुरोर्भयात्॥ ७॥

उस रक्त पीनेवाले कीड़ेने कर्णकी जाँघके पास पहुँचकर उसे छेद दिया; परंतु गुरुजीके जागनेके भयसे कर्ण न तो उसे फेंक सका और न मार ही सका॥

संदश्यमानस्तु तथा कृमिणा तेन भारत।
गुरोः प्रबोधनाशङ्की तमुपैक्षत सूर्यजः॥ ८॥

भरतनन्दन! वह कीड़ा उसे बारंबार डँसता रहा तो भी सूर्यपुत्र कर्णने कहीं गुरुजी जाग न उठें, इस आशंकासे उसकी उपेक्षा कर दी॥ ८॥

कर्णस्तु वेदनां धैर्यादसह्यां विनिगृह्य ताम्।
अकम्पयन्नव्यथयन् धारयामास भार्गवम्॥ ९॥

यद्यपि कर्णको असह्य वेदना हो रही थी तो भी वह धैर्यपूर्वक उसे सहन करके कम्पित और व्यथित न होता हुआ परशुरामजीको गोदमें लिये रहा॥ ९॥

यदास्य रुधिरेणाङ्गं परिस्पृष्टं भृगूद्वहः।
तदाबुद्ध्यत तेजस्वी संत्रस्तश्चेदमब्रवीत्॥ १०॥

जब उसका रक्त परशुरामजीके शरीरमें लग गया, तब वे तेजस्वी भार्गव जाग उठे और भयभीत होकर इस प्रकार बोले—॥ १०॥

अहोऽस्म्यशुचितां प्राप्तः किमिदं क्रियते त्वया।
कथयस्व भयं त्वक्त्वा याथातथ्यमिदं मम॥ ११॥

'अरे! मैं तो अशुद्ध हो गया! तू यह क्या कर रहा है? भय छोड़कर मुझे इस विषयमें ठीक-ठीक बता'॥

तस्य कर्णस्तदाऽऽचष्ट कृमिणा परिभक्षणम्।
ददर्श रामस्तं चापि कृमिं सूकरसंनिभम्॥ १२॥

तब कर्णने उनसे कीड़ेके काटनेकी बात बतायी। परशुरामजीने भी उस कीड़ेको देखा, वह सूअरके समान जान पड़ता था॥ १२॥

अष्टपादं तीक्ष्णदंष्ट्रं सूचीभिरिव संवृतम्।
रोमभिः संनिरुद्धाङ्गमलर्कं नाम नामतः॥ १३॥

उसके आठ पैर थे और तीखी दाढ़ें। सूई-जैसी चुभनेवाली रोमावलियोंसे उसका सारा शरीर भरा तथा रुँधा हुआ था। वह 'अलर्क' नामसे प्रसिद्ध कीड़ा था॥

स दृष्टमात्रो रामेण कृमिः प्राणानवासृजत्।
तस्मिन्नेवासृजि क्लिन्नस्तदद्भुतमिवाभवत्॥ १४॥

परशुरामजीकी दृष्टि पड़ते ही उसी रक्तसे भीगे हुए उस कीड़ेने प्राण त्याग दिये, वह एक अद्भुत-सी बात हुई॥ १४॥

ततोऽन्तरिक्षे ददृशे विश्वरूपः करालवान्।
राक्षसो लोहितग्रीवः कृष्णाङ्गो मेघवाहनः॥ १५॥

तदनन्तर आकाशमें सब तरहके रूप धारण करनेमें समर्थ एक विकराल राक्षस दिखायी दिया, उसकी ग्रीवा लाल थी और शरीरका रंग काला था। वह बादलोंपर आरुढ था॥ १५॥

स रामं प्राञ्जलिर्भूत्वा बभाषे पूर्णमानसः।
स्वस्ति ते भृगुशार्दूल गमिष्येऽहं यथागतम्॥ १६॥
मोक्षितो नरकादस्माद् भवता मुनिसत्तम।
भद्रं तवास्तु वन्दे त्वां प्रियं मे भवता कृतम्॥ १७॥

उस राक्षसने पूर्णमनोरथ हो हाथ जोड़कर परशुरामजीसे कहा—'भृगुश्रेष्ठ! आपका कल्याण हो। मैं जैसे आया था, वैसे लौट जाऊँगा। मुनिप्रवर! आपने इस नरकसे मुझे छुटकारा दिला दिया। आपका भला हो। मैं

आपको प्रणाम करता हूँ। आपने मेरा बड़ा प्रिय कार्य किया है'॥ १६-१७॥

तमुवाच महाबाहुर्जामदग्न्यः प्रतापवान्।
कस्त्वं कस्माच्च नरकं प्रतिपन्नो ब्रवीहि तत्॥ १८॥

तब महाबाहु प्रतापी जमदग्निनन्दन परशुरामने उससे पूछा—'तू कौन है? और किस कारणसे इस नरकमें पड़ा था? बतलाओ'॥ १८॥

सोऽब्रवीदहमासं प्राग् दंशो नाम महासुरः।
पुरा देवयुगे तात भृगोस्तुल्यवया इव॥ १९॥

उसने उत्तर दिया—'तात! प्राचीनकालके सत्ययुगकी बात है। मैं दंश नामसे प्रसिद्ध एक महान् असुर था। महर्षि भृगुके बराबर ही मेरी भी अवस्था रही॥ १९॥

सोऽहं भृगोः सुदयितां भार्यामपहरं बलात्।
महर्षेरभिशापेन कृमिभूतोऽपतं भुवि॥ २०॥

'एक दिन मैंने भृगुकी प्राणप्यारी पत्नीका बलपूर्वक अपहरण कर लिया। इससे महर्षिने शाप दे दिया और मैं कीड़ा होकर इस पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २०॥

अब्रवीद्धि स मां क्रुद्धस्तव पूर्वपितामहः।
मूत्रश्लेष्माशनः पाप निरयं प्रतिपत्स्यसे॥ २१॥

'आपके पूर्व पितामह भृगुजीने शाप देते समय कुपित होकर मुझसे इस प्रकार कहा—'ओ पापी! तू मूत्र और लार आदि खानेवाला कीड़ा होकर नरकमें पड़ेगा'॥ २१॥

शापस्यान्तो भवेद् ब्रह्मन्नित्येवं तमथाब्रवम्।
भविता भार्गवाद् रामादिति मामब्रवीद् भृगुः॥ २२॥

'तब मैंने उनसे कहा—'ब्रह्मन्! इस शापका अन्त भी होना चाहिये।' यह सुनकर भृगुजी बोले—'भृगुवंशी परशुरामसे इस शापका अन्त होगा'॥ २२॥

सोऽहमेनां गतिं प्राप्तो यथा न कुशलं तथा।
त्वया साधो समागम्य विमुक्तः पापयोनितः॥ २३॥

'वही मैं इस गतिको प्राप्त हुआ था, जहाँ कभी कुशल नहीं बीता। साधो! आपका समागम होनेसे मेरा इस पापयोनिसे उद्धार हो गया'॥ २३॥

एवमुक्त्वा नमस्कृत्य ययौ रामं महासुरः।
रामः कर्णं च सक्रोधमिदं वचनमब्रवीत्॥ २४॥

परशुरामजीसे ऐसा कहकर वह महान् असुर उन्हें प्रणाम करके चला गया। इसके बाद परशुरामजीने कर्णसे क्रोधपूर्वक कहा—॥ २४॥

अतिदुःखमिदं मूढ न जातु ब्राह्मणः सहेत्।
क्षत्रियस्येव ते धैर्यं कामया सत्यमुच्यताम्॥ २५॥

'ओ मूर्ख! ऐसा भारी दुःख ब्राह्मण कदापि नहीं सह सकता। तेरा धैर्य तो क्षत्रियके समान है। तू स्वेच्छासे ही सत्य बता, कौन है?'॥ २५॥

तमुवाच ततः कर्णः शापाद् भीतः प्रसादयन्।
ब्रह्मक्षत्रान्तरे जातं सूतं मां विद्धि भार्गव॥ २६॥
राधेयः कर्ण इति मां प्रवदन्ति जना भुवि।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मन्नस्त्रलुब्धस्य भार्गव॥ २७॥

कर्ण परशुरामजीके शापके भयसे डर गया। अतः उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हुए कहा—'भार्गव! आप यह जान लें कि मैं ब्राह्मण और क्षत्रियसे भिन्न सूतजातिमें पैदा हुआ हूँ। भूमण्डलके मनुष्य मुझे राधापुत्र कर्ण कहते हैं। ब्रह्मन्! भृगुनन्दन! मैंने अस्त्रके लोभसे ऐसा किया है! आप मुझपर कृपा करें॥ २६-२७॥

पिता गुरुर्न संदेहो वेदविद्याप्रदः प्रभुः।
अतो भार्गव इत्युक्तं मया गोत्रं तवान्तिके॥ २८॥

'इसमें संदेह नहीं कि वेद और विद्याका दान करनेवाला शक्तिशाली गुरु पिताके ही तुल्य है; इसलिये मैंने आपके निकट अपना गोत्र भार्गव बताया है'॥ २८॥

तमुवाच भृगुश्रेष्ठः सरोषः प्रदहन्निव।
भूमौ निपतितं दीनं वेपमानं कृताञ्जलिम्॥ २९॥

यह सुनकर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी इतने रोषमें भर गये, मानो वे उसे दग्ध कर डालेंगे। उधर कर्ण हाथ जोड़ दीन भावसे काँपता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा। तब वे उससे बोले—॥ २९॥

यस्मान्मिथ्योपचरितो ह्यस्त्रलोभादिह त्वया।
तस्मादेतद्धि ते मूढ ब्रह्मास्त्रं प्रतिभास्यति॥ ३०॥
अन्यत्र वधकालात् ते सदृशेन समीयुषः।

'मूढ़! तूने ब्रह्मास्त्रके लोभसे झूठ बोलकर यहाँ मेरे साथ मिथ्याचार (कपटपूर्ण व्यवहार) किया है, इसलिये जबतक तू संग्राममें अपने समान योद्धाके साथ नहीं भिड़ेगा और तेरी मृत्युका समय निकट नहीं आ जायगा, तभीतक तुझे इस ब्रह्मास्त्रका स्मरण बना रहेगा॥ ३०½॥

अब्राह्मणे न हि ब्रह्म ध्रुवं तिष्ठेत् कदाचन॥ ३१॥
गच्छेदानीं न ते स्थानमनृतस्येह विद्यते।
न त्वया सदृशो युद्धे भविता क्षत्रियो भुवि॥ ३२॥

'जो ब्राह्मण नहीं है, उसके हृदयमें ब्रह्मास्त्र कभी स्थिर नहीं रह सकता। अब तू यहाँसे चला जा। तुझ मिथ्यावादीके लिये यहाँ स्थान नहीं है, परंतु मेरे आशीर्वादसे इस भूतलका कोई भी क्षत्रिय युद्धमें तेरी समानता नहीं करेगा'॥ ३१-३२॥

एवमुक्तः स रामेण न्यायेनोपजगाम ह।
दुर्योधनमुपागम्य कृतास्त्रोऽस्मीति चाब्रवीत्॥ ३३॥

परशुरामजीके ऐसा कहनेपर कर्ण उन्हें न्याय-पूर्वक प्रणाम करके वहाँसे लौट आया और दुर्योधनके पास पहुँचकर बोला—'मैंने सब अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया'॥ ३३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णास्त्रप्राप्तिर्नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णको अस्त्रकी प्राप्तिनामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ॥ ३॥

चतुर्थोऽध्यायः

कर्णकी सहायतासे समागत राजाओंको पराजित करके दुर्योधनद्वारा स्वयंवरसे कलिंगराजकी कन्याका अपहरण

नारद उवाच

कर्णस्तु समवाप्यैवमस्त्रं भार्गवनन्दनात्।
दुर्योधनेन सहितो मुमुदे भरतर्षभ॥ १॥

नारदजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार भार्गवनन्दन परशुरामसे ब्रह्मास्त्र पाकर कर्ण दुर्योधनके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा॥ १॥

ततः कदाचिद् राजानः समाजग्मुः स्वयंवरे।
कलिङ्गविषये राजन् राज्ञश्चित्राङ्गदस्य च॥ २॥

राजन्! तदनन्तर किसी समय कलिंगदेशके राजा चित्रांगदके यहाँ स्वयंवरमहोत्सवमें देश-देशके राजा एकत्र हुए॥ २॥

श्रीमद्राजपुरं नाम नगरं तत्र भारत।
राजानः शतशस्तत्र कन्यार्थे समुपागमन्॥ ३॥

भरतनन्दन! कलिंगराजकी राजधानी राजपुर नामक नगरमें थी, वह नगर बड़ा सुन्दर था। राजकुमारीको प्राप्त करनेके लिये सैकड़ों नरेश वहाँ पधारे॥ ३॥

श्रुत्वा दुर्योधनस्तत्र समेतान् सर्वपार्थिवान्।
रथेन काञ्चनाङ्गेन कर्णेन सहितो ययौ॥ ४॥

दुर्योधनने जब सुना कि वहाँ सभी राजा एकत्र हो रहे हैं तो वह स्वयं भी सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो कर्णके साथ गया॥ ४॥

ततः स्वयंवरे तस्मिन् सम्प्रवृत्ते महोत्सवे।
समाजग्मुर्नृपतयः कन्यार्थे नृपसत्तम॥ ५॥

नृपश्रेष्ठ! वह स्वयंवरमहोत्सव आरम्भ होनेपर राजकन्याको पानेके लिये जो बहुत-से नरेश वहाँ पधारे थे, उनके नाम इस प्रकार हैं॥ ५॥

शिशुपालो जरासंधो भीष्मको वक्र एव च।
कपोतरोमा नीलश्च रुक्मी च दृढविक्रमः॥ ६॥
श्रृगालश्च महाराजः स्त्रीराज्याधिपतिश्च यः।
अशोकः शतधन्वा च भोजो वीरश्च नामतः॥ ७॥

शिशुपाल, जरासंध, भीष्मक, वक्र, कपोतरोमा, नील, सुदृढ़ पराक्रमी रुक्मी, स्त्रीराज्यके स्वामी महाराज श्रृगाल, अशोक, शतधन्वा, भोज और वीर॥ ६-७॥

एते चान्ये च बहवो दक्षिणां दिशमाश्रिताः।
म्लेच्छाश्चार्याश्च राजानः प्राच्योदीच्यास्तथैव च॥ ८॥

ये तथा और भी बहुत-से नरेश दक्षिण दिशाकी उस राजधानीमें गये। उनमें म्लेच्छ, आर्य, पूर्व और उत्तर सभी देशोंके राजा थे॥ ८॥

काञ्चनाङ्गदिनः सर्वे शुद्धजाम्बूनदप्रभाः।
सर्वे भास्वरदेहाश्च व्याघ्रा इव बलोत्कटाः॥ ९॥

उन सबने सोनेके बाजूबंद पहन रखे थे। सभीकी अंगकान्ति शुद्ध सुवर्णके समान दमक रही थी। सबके शरीर तेजस्वी थे और सभी व्याघ्रके समान उत्कट बलशाली थे॥ ९॥

ततः समुपविष्टेषु तेषु राजसु भारत।
विवेश रङ्गं सा कन्या धात्रीवर्षवरान्विता॥ १०॥

भारत! जब सब राजा स्वयंवर-सभामें बैठ गये, तब उस राजकन्याने धाय और खोजोंके साथ रंगभूमिमें प्रवेश किया॥ १०॥

ततः संश्राव्यमाणेषु राज्ञां नामसु भारत।
अत्यक्रामद् धार्तराष्ट्रं सा कन्या वरवर्णिनी॥ ११॥

भरतनन्दन! तत्पश्चात् जब उसे राजाओंके नाम सुना-सुनाकर उनका परिचय दिया जाने लगा, उस समय वह सुन्दरी राजकुमारी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके सामनेसे होकर आगे बढ़ने लगी॥ ११॥

दुर्योधनस्तु कौरव्यो नामर्षयत लङ्घनम्।
प्रत्यषेधच्च तां कन्यामसत्कृत्य नराधिपान्॥ १२॥

कुरुवंशी दुर्योधनको यह सहन नहीं हुआ कि

राजकन्या उसे लाँघकर अन्यत्र जाय। उसने समस्त नरेशोंका अपमान करके उसे वहीं रोक लिया॥ १२॥

स वीर्यमदमत्तत्वाद् भीष्मद्रोणावुपाश्रितः।
रथमारोप्य तां कन्यामाजहार नराधिपः॥ १३॥

राजा दुर्योधनको भीष्म और द्रोणाचार्यका सहारा प्राप्त था; इसलिये वह बलके मदसे उन्मत्त हो रहा था। उसने उस राजकन्याको रथपर बिठाकर उसका अपहरण कर लिया॥ १३॥

तमन्वगाद् रथी खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
कर्णः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः पृष्ठतः पुरुषर्षभ॥ १४॥

पुरुषोत्तम! उस समय शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण रथपर आरूढ़ हो हाथमें दस्ताने बाँधे और तलवार लिये दुर्योधनके पीछे-पीछे चला॥ १४॥

ततो विमर्दः सुमहान् राज्ञामासीद् युयुत्सताम्।
संनह्यतां तनुत्राणि रथान् योजयतामपि॥ १५॥

तदनन्तर युद्धकी इच्छावाले राजाओंमेंसे कुछ लोग कवच बाँधने और कुछ रथ जोतने लगे। उन सब लोगोंमें बड़ा भारी संग्राम छिड़ गया॥ १५॥

तेऽभ्यधावन्त संक्रुद्धाः कर्णदुर्योधनावुभौ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तो मेघाः पर्वतयोरिव॥ १६॥

जैसे मेघ दो पर्वतोंपर जलकी धारा बरसा रहे हों, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए वे नरेश कर्ण और दुर्योधन दोनोंपर टूट पड़े तथा उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे॥ १६॥

कर्णस्तेषामापततामेकैकेन शरेण ह।
धनूंषि च शरव्रातान् पातयामास भूतले॥ १७॥

कर्णने एक-एक बाणसे उन सभी आक्रमणकारी नरेशोंके धनुष और बाण-समूहोंको भूतलपर काट गिराया॥

ततो विधनुषः कांश्चित् कांश्चिदुद्यतकार्मुकान्।
कांश्चिच्चोद्वहतो बाणान् रथशक्तिगदास्तथा॥ १८॥
लाघवाद् व्याकुलीकृत्य कर्णः प्रहरतां वरः।
हतसूतांश्च भूयिष्ठानवजिग्ये नराधिपान्॥ १९॥

तदनन्तर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ कर्णने जल्दी-जल्दी बाण मारकर उन सब राजाओंको व्याकुल कर दिया, कोई धनुषसे रहित हो गये, कोई अपने धनुषको ऊपर ही उठाये रह गये, कोई बाण, कोई रथशक्ति और कोई गदा लिये रह गये। जो जिस अवस्थामें थे, उसी अवस्थामें उन्हें व्याकुल करके कर्णने उनके सारथियोंको मार डाला और उन बहुसंख्यक नरेशोंको परास्त कर दिया॥

ते स्वयं वाहयन्तोऽश्वान् पाहि पाहीति वादिनः।
व्यपेयुस्ते रणं हित्वा राजानो भग्नमानसाः॥ २०॥

वे पराजित भूपाल भग्नमनोरथ हो स्वयं ही घोड़े हाँकते और 'बचाओ बचाओ,' की रट लगाते हुए युद्ध छोड़कर भाग गये॥ २०॥

दुर्योधनस्तु कर्णेन पाल्यमानोऽभ्ययात् तदा।
हृष्टः कन्यामुपादाय नगरं नागसाह्वयम्॥ २१॥

दुर्योधन कर्णसे सुरक्षित हो राजकन्याको साथ लिये राजी-खुशी हस्तिनापुर वापस आ गया॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्योधनस्य स्वयंवरे कन्याहरणं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दुर्योधनके द्वारा स्वयंवरमें राजकन्याका अपहरण नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ॥ ४॥

पञ्चमोऽध्यायः

कर्णके बल और पराक्रमका वर्णन, उसके द्वारा जरासंधकी पराजय और जरासंधका कर्णको अंगदेशमें मालिनी नगरीका राज्य प्रदान करना

नारद उवाच

आविष्कृतबलं कर्णं श्रुत्वा राजा स मागधः।
आह्वयद् द्वैरथेनाजौ जरासंधो महीपतिः॥ १॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! कर्णके बलकी ख्याति सुनकर मगधदेशके राजा जरासंधने द्वैरथ युद्धके लिये उसे ललकारा॥ १॥

तयोः समभवद् युद्धं दिव्यास्त्रविदुषोर्द्वयोः।
युधि नानाप्रहरणैरन्योन्यमभिवर्षतोः॥ २॥

वे दोनों ही दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता थे। उन दोनोंमें युद्ध आरम्भ हो गया। वे रणभूमिमें एक दूसरेपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे॥ २॥

क्षीणबाणौ विधनुषौ भग्नखड्गौ महीं गतौ।
बाहुभिः समसज्जेतामुभावपि बलान्वितौ॥ ३॥

दोनोंके ही बाण क्षीण हो गये, धनुष कट गये और तलवारोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये। तब वे दोनों बलशाली वीर पृथ्वीपर खड़े हो भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध करने लगे॥

बाहुकण्टकयुद्धेन तस्य कर्णोऽथ युध्यतः।
बिभेद संधिं देहस्य जरया श्लेषितस्य हि॥ ४॥

कर्णने बाहुकण्टक युद्धके द्वारा जरा नामक राक्षसीके जोड़े हुए युद्धपरायण जरासंधके शरीरकी संधिको चीरना आरम्भ किया*॥ ४॥

स विकारं शरीरस्य दृष्ट्वा नृपतिरात्मनः।
प्रीतोऽस्मीत्यब्रवीत् कर्णं वैरमुत्सृज्य दूरतः॥ ५॥

राजा जरासंधने अपने शरीरके उस विकारको देखकर वैरभावको दूर हटा दिया और कर्णसे कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ'॥ ५॥

प्रीत्या ददौ स कर्णाय मालिनीं नगरीमथ।
अङ्गेषु नरशार्दूल स राजाऽऽसीत् सपत्नजित्॥ ६॥
पालयामास चम्पां च कर्णः परबलार्दनः।
दुर्योधनस्यानुमते तवापि विदितं तथा॥ ७॥

साथ ही उसने प्रसन्नतापूर्वक कर्णको अंगदेशकी मालिनी नगरी दे दी। नरश्रेष्ठ! शत्रुविजयी कर्ण तभीसे अंगदेशका राजा हो गया था। इसके बाद दुर्योधनकी अनुमतिसे शत्रु-सैन्यसंहारी कर्ण चम्पा नगरी—चम्पारनका भी पालन करने लगा। यह सब तो तुम्हें भी ज्ञात ही है॥

एवं शस्त्रप्रतापेन प्रथितः सोऽभवत् क्षितौ।
त्वद्धितार्थं सुरेन्द्रेण भिक्षितो वर्मकुण्डले॥ ८॥

इस प्रकार कर्ण अपने शस्त्रोंके प्रतापसे समस्त भूमण्डलमें विख्यात हो गया। एक दिन देवराज इन्द्रने तुमलोगोंके हितके लिये कर्णसे उसके कवच और कुण्डल माँगे॥ ८॥

स दिव्ये सहजे प्रादात् कुण्डले परमार्जिते।
सहजं कवचं चापि मोहितो देवमायया॥ ९॥

देवमायासे मोहित हुए कर्णने अपने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए दोनों दिव्य कुण्डलों और कवचको भी इन्द्रके हाथमें दे दिया॥ ९॥

विमुक्तः कुण्डलाभ्यां च सहजेन च वर्मणा।
निहतो विजयेनाजौ वासुदेवस्य पश्यतः॥ १०॥

इस प्रकार जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए कवच और कुण्डलोंसे हीन हो जानेपर कर्णको अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके देखते-देखते मारा था॥ १०॥

ब्राह्मणस्याभिशापेन रामस्य च महात्मनः।
कुन्त्याश्च वरदानेन मायया च शतक्रतोः॥ ११॥
भीष्मावमानात् संख्यायां रथस्यार्धानुकीर्तनात्।
शल्यात् तेजोवधाच्चापि वासुदेवनयेन च॥ १२॥

एक तो उसे अग्निहोत्री ब्राह्मण तथा महात्मा परशुरामजीके शाप मिले थे। दूसरे, उसने स्वयं भी कुन्तीको अन्य चार भाइयोंकी रक्षाके लिये वरदान दिया था। तीसरे, इन्द्रने माया करके उसके कवच-कुण्डल ले लिये। चौथे, महारथियोंकी गणना करते समय भीष्मजीने अपमानपूर्वक उसे बार-बार अर्धरथी कहा था। पाँचवें, शल्यकी ओरसे उसके तेजको नष्ट करनेका प्रयास किया गया था और छठे, भगवान् श्रीकृष्णकी नीति भी कर्णके प्रतिकूल काम कर रही थी—इन सब कारणोंसे वह पराजित हुआ॥ ११-१२॥

रुद्रस्य देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च।
कुबेरद्रोणयोश्चैव कृपस्य च महात्मनः॥ १३॥
अस्त्राणि दिव्यान्यादाय युधि गाण्डीवधन्वना।
हतो वैकर्तनः कर्णो दिवाकरसमद्युतिः॥ १४॥

इधर, गाण्डीवधारी अर्जुनने रुद्र, देवराज इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, द्रोणाचार्य तथा महात्मा कृपके दिये हुए दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये थे; इसीलिये युद्धमें उन्होंने सूर्यके समान तेजस्वी वैकर्तन कर्णका वध किया॥ १३-१४॥

एवं शप्तस्तव भ्राता बहुभिश्चापि वञ्चितः।
न शोच्यः पुरुषव्याघ्र युद्धेन निधनं गतः॥ १५॥

पुरुषसिंह युधिष्ठिर! इस प्रकार तुम्हारे भाई कर्णको शाप तो मिला ही था, बहुत लोगोंने उसे ठग भी लिया था, तथापि वह युद्धमें मारा गया है, इसलिये शोक करनेके योग्य नहीं है॥ १५॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णवीर्यकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णके पराक्रमका कथन नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५॥

---

* जहाँ बलवान् योद्धा अपने प्रतिद्वन्द्वीको दुर्बल पा उसकी एक पिण्डलीको पैरसे दबाकर दूसरीको ऊपर उठा सारे शरीरको बीचसे चीर डालता है, वह बाहुकण्टक नामक युद्ध कहा गया है। जैसा कि निम्नांकित वचनसे सूचित होता है—
'एकां जंघां पदाऽऽक्रम्य परामुद्यम्य पाट्यते। केतकीपत्रवच्छत्रोर्युद्धं तद् बाहुकण्टकम्॥' इति

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, कुन्तीका उन्हें समझाना और स्त्रियोंको युधिष्ठिरका शाप

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा देवर्षिर्विरराम स नारदः।
युधिष्ठिरस्तु राजर्षिर्दध्यौ शोकपरिप्लुतः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इतना कहकर देवर्षि नारद तो चुप हो गये, किंतु राजर्षि युधिष्ठिर शोकमग्न हो चिन्ता करने लगे॥ १॥

तं दीनमनसं वीरं शोकोपहतमातुरम्।
निःश्वसन्तं यथा नागं पर्यश्रुनयनं तथा॥ २॥
कुन्ती शोकपरीताङ्गी दुःखोपहतचेतना।
अब्रवीन्मधुराभाषा काले वचनमर्थवत्॥ ३॥

उनका मन बहुत दुखी हो गया। वे शोकके मारे व्याकुल हो सर्पकी भाँति लंबी साँस खींचने लगे। उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगा। वीर युधिष्ठिरकी ऐसी अवस्था देख कुन्तीके सारे अंगोंमें शोक व्याप्त हो गया। वे दुःखसे अचेत-सी हो गयीं और मधुर वाणीमें समयके अनुसार अर्थभरी बात कहने लगीं—॥ २-३॥

युधिष्ठिर महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि।
जहि शोकं महाप्राज्ञ शृणु चेदं वचो मम॥ ४॥

'महाबाहु युधिष्ठिर! तुम्हें कर्णके लिये शोक नहीं करना चाहिये। महामते! शोक छोड़ो और मेरी यह बात सुनो॥ ४॥

यातितः स मया पूर्वं भ्रात्र्यं ज्ञापयितुं तव।
भास्करेण च देवेन पित्रा धर्मभृतां वर॥ ५॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! मैंने पहले कर्णको यह बतानेका प्रयत्न किया था कि पाण्डव तुम्हारे भाई हैं। उसके पिता भगवान् भास्करने भी ऐसी ही चेष्टा की॥ ५॥

यद्वाच्यं हितकामेन सुहृदा हितमिच्छता।
तथा दिवाकरेणोक्तः स्वप्नान्ते मम चाग्रतः॥ ६॥

'हितकी इच्छा रखनेवाले एक हितैषी सुहृद्को जो कुछ कहना चाहिये, वही भगवान् सूर्यने उससे स्वप्नमें और मेरे सामने भी कहा॥ ६॥

न चैनमशकद् भानुरहं वा स्नेहकारणैः।
पुरा प्रत्यनुनेतुं वा नेतुं वाप्येकतां त्वया॥ ७॥

'परंतु भगवान् सूर्य एवं मैं दोनों ही स्नेहके कारण दिखाकर अपने पक्षमें करने या तुमलोगोंसे एकता (मेल) करानेमें सफल न हो सके॥ ७॥

ततः कालपरीतः स वैरस्योद्धरणे रतः।
प्रतीपकारी युष्माकमिति चोपेक्षितो मया॥ ८॥

'तदनन्तर वह कालके वशीभूत हो वैरका बदला लेनेमें लग गया और तुमलोगोंके विपरीत ही सारे कार्य करने लगा; यह देखकर मैंने उसकी उपेक्षा कर दी'॥ ८॥

इत्युक्तो धर्मराजस्तु मात्रा बाष्पाकुलेक्षणः।
उवाच वाक्यं धर्मात्मा शोकव्याकुलितेन्द्रियः॥ ९॥
भवत्या गूढमन्त्रत्वात् पीडितोऽस्मीत्युवाच ताम्॥ १०॥

माताके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरके नेत्रोंमें आँसू भर आया, शोकसे उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं और वे धर्मात्मा नरेश उनसे इस प्रकार बोले—'माँ! आपने इस गोपनीय बातको गुप्त रखकर मुझे बड़ा कष्ट दिया'॥ ९-१०॥

शशाप च महातेजाः सर्वलोकेषु योषितः।
न गुह्यं धारयिष्यन्तीत्येवं दुःखसमन्वितः॥ ११॥

फिर महातेजस्वी युधिष्ठिरने अत्यन्त दुखी होकर सारे संसारकी स्त्रियोंको यह शाप दे दिया कि 'आजसे स्त्रियाँ अपने मनमें कोई गोपनीय बात नहीं छिपा सकेंगी'॥ ११॥

स राजा पुत्रपौत्राणां सम्बन्धिसुहृदां तदा।
स्मरन्नुद्विग्नहृदयो बभूवोद्विग्नचेतनः॥ १२॥

राजा युधिष्ठिरका हृदय अपने पुत्रों, पौत्रों, सम्बन्धियों तथा सुहृदोंको याद करके उद्विग्न हो उठा। उनके मनमें व्याकुलता छा गयी॥ १२॥

ततः शोकपरीतात्मा सधूम इव पावकः।
निर्वेदमगमद् धीमान् राजा संतापपीडितः॥ १३॥

तत्पश्चात् शोकसे व्याकुलचित्त हुए बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर संतापसे पीड़ित हो धूमयुक्त अग्निके समान धीरे-धीरे जलने लगे तथा राज्य और जीवनसे विरक्त हो उठे॥ १३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्त्रीशापे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें स्त्रियोंको युधिष्ठिरका शापविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अर्जुनसे आन्तरिक खेद प्रकट करते हुए अपने लिये राज्य छोड़कर वनमें चले जानेका प्रस्ताव करना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा शोकव्याकुलचेतनः।
शुशोच दुःखसंतप्तः स्मृत्वा कर्णं महारथम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरका चित्त शोकसे व्याकुल हो उठा था। वे महारथी कर्णको याद करके दुःखसे संतप्त हो शोकमें डूब गये॥ १॥

आविष्टो दुःखशोकाभ्यां निःश्वसंश्च पुनः पुनः।
दृष्ट्वार्जुनमुवाचेदं वचनं शोककर्शितः॥ २॥

दुःख और शोकसे आविष्ट हो वे बारंबार लंबी साँस खींचने लगे और अर्जुनको देखकर शोकसे पीड़ित हो इस प्रकार बोले॥ २॥

युधिष्ठिर उवाच

यद्भैक्ष्यमाचरिष्याम वृष्ण्यन्धकपुरे वयम्।
ज्ञातीन् निष्पुरुषान् कृत्वा नेमां प्राप्स्याम दुर्गतिम्॥ ३॥

युधिष्ठिरने कहा—अर्जुन! यदि हमलोग वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी क्षत्रियोंकी नगरी द्वारकामें जाकर भीख माँगते हुए अपना जीवन-निर्वाह कर लेते तो आज अपने कुटुम्बको निर्वंश करके हम इस दुर्दशाको प्राप्त नहीं होते॥

अमित्रा नः समृद्धार्था वृत्तार्थाः कुरवः किल।
आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्मफलमाप्नुमः॥ ४॥

हमारे शत्रुओंका मनोरथ पूर्ण हुआ (क्योंकि वे हमारे कुलका विनाश देखकर प्रसन्न होंगे)। कौरवोंका प्रयोजन तो उनके जीवनके साथ ही समाप्त हो गया। आत्मीय जनोंको मारकर स्वयं ही अपनी हत्या करके हम कौन-सा धर्मका फल प्राप्त करेंगे?॥ ४॥

धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम्।
धिगस्त्वमर्षं येनेमामापदं गमिता वयम्॥ ५॥

क्षत्रियोंके आचार, बल, पुरुषार्थ और अमर्षको धिक्कार है! जिनके कारण हम ऐसी विपत्तिमें पड़ गये॥ ५॥

साधु क्षमा दमः शौचं वैराग्यं चाप्यमत्सरः।
अहिंसा सत्यवचनं नित्यानि वनचारिणाम्॥ ६॥

क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम, बाहर-भीतरकी शुद्धि, वैराग्य, ईर्ष्याका अभाव, अहिंसा और सत्यभाषण—ये वनवासियोंके नित्य धर्म ही श्रेष्ठ हैं॥ ६॥

वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता राज्यलाभबुभुत्सया॥ ७॥

हमलोग तो लोभ और मोहके कारण राज्यलाभके सुखका अनुभव करनेकी इच्छासे दम्भ और अभिमानका आश्रय लेकर इस दुर्दशामें फँस गये हैं॥ ७॥

त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान् कश्चित् प्रहर्षयेत्।
बान्धवान् निहतान् दृष्ट्वा पृथिव्यां विजयैषिणः॥ ८॥

जब हमने पृथ्वीपर विजयकी इच्छा रखनेवाले अपने बन्धु-बान्धवोंको मारा गया देख लिया, तब हमें इस समय तीनों लोकोंका राज्य देकर भी कोई प्रसन्न नहीं कर सकता॥ ८॥

ते वयं पृथिवीहेतोरवध्यान् पृथिवीश्वरान्।
सम्परित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवाः॥ ९॥

हाय! हमलोगोंने इस तुच्छ पृथ्वीके लिये अवध्य राजाओंकी भी हत्या की और अब उन्हें छोड़कर बन्धु-बान्धवोंसे हीन हो अर्थ-भ्रष्टकी भाँति जीवन व्यतीत कर रहे हैं॥ ९॥

आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव।
आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम्॥ १०॥

जैसे मांसके लोभी कुत्तोंको अशुभकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार राज्यमें आसक्त हुए हमलोगोंको भी अनिष्ट प्राप्त हुआ है। अतः हमारे लिये मांस-तुल्य राज्यको पाना अभीष्ट नहीं है, उसका परित्याग ही अभीष्ट होना चाहिये॥ १०॥

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः।
न गवाश्वेन सर्वेण ते त्याज्या य इमे हताः॥ ११॥

ये जो हमारे सगे-सम्बन्धी मारे गये हैं, इनका परित्याग तो हमें समस्त पृथ्वी, राशि-राशि सुवर्ण और समूचे गाय-घोड़े पाकर भी नहीं करना चाहिये था॥ ११॥

काममन्युपरीतास्ते क्रोधहर्षसमन्विताः।
मृत्युयानं समारुह्य गता वैवस्वतक्षयम्॥ १२॥

वे काम और क्रोधके वशीभूत थे, हर्ष और रोषसे भरे हुए थे, अतः मृत्युरूपी रथपर सवार हो यमलोकमें चले गये॥ १२॥

बहुकल्याणसंयुक्तानिच्छन्ति पितरः सुतान्।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च तितिक्षया॥ १३॥

सभी पिता तपस्या, ब्रह्मचर्य-पालन, सत्यभाषण तथा तितिक्षा आदि साधनोंद्वारा अनेक कल्याणमय गुणोंसे युक्त बहुत-से पुत्र पाना चाहते हैं॥ १३॥

उपवासैस्तथेज्याभिर्व्रतकौतुकमङ्गलैः ।
लभन्ते मातरो गर्भान् मासान् दश च बिभ्रति॥ १४॥
यदि स्वस्ति प्रजायन्ते जाता जीवन्ति वा यदि।
सम्भाविता जातबलास्ते दद्युर्यदि नः सुखम्॥ १५॥
इह चामुत्र चैवेति कृपणाः फलहेतवः।

इसी प्रकार सभी माताएँ उपवास, यज्ञ, व्रत, कौतुक और मंगलमय कृत्योंद्वारा उत्तम पुत्रकी इच्छा रखकर दस महीनोंतक अपने गर्भोंका भरण-पोषण करती हैं। उन सबका यही उद्देश्य होता है कि यदि कुशलपूर्वक बच्चे पैदा होंगे, पैदा होनेपर यदि जीवित रहेंगे तथा बलवान् होकर यदि अच्छे गुणोंसे सम्पन्न होंगे तो हमें इहलोक और परलोकमें सुख देंगे। इस प्रकार वे दीन माताएँ फलकी आकांक्षा रखती हैं॥ १४-१५½॥

तासामयं समुद्योगो निर्वृत्तः केवलोऽफलः॥ १६॥
यदासां निहताः पुत्रा युवानो मृष्टकुण्डलाः।
अभुक्त्वा पार्थिवान् भोगानृणान्यनपहाय च॥ १७॥
पितृभ्यो देवताभ्यश्च गता वैवस्वतक्षयम्॥ १८॥

परंतु उनका यह उद्योग सर्वथा निष्फल हो गया; क्योंकि हमलोगोंने उन सब माताओंके नवयुवक पुत्रोंको, जो विशुद्ध सुवर्णमय कुण्डलोंसे अलंकृत थे, मार डाला है। वे इस भूलोकके भोगोंके उपभोगका अवसर न पाकर देवताओं और पितरोंका ऋण उतारे बिना ही यमलोकमें चले गये॥ १६—१८॥

यदैषामम्ब पितरौ जातकामावुभावपि।
संजातधनरत्नेषु तदैव निहता नृपाः॥ १९॥

माँ! इन राजाओंके माता-पिता जब इनके द्वारा उपार्जित धन और रत्न आदिके उपभोगकी आशा करने लगे, तभी ये मारे गये॥ १९॥

संयुक्ताः काममन्युभ्यां क्रोधहर्षासमञ्जसाः।
न ते जयफलं किंचिद् भोक्तारो जातु कर्हिचित्॥ २०॥

जो लोग कामना और खीझसे युक्त हो क्रोध और हर्षके कारण अपना संतुलन खो बैठते हैं, वे कभी कहीं किंचिन्मात्र भी विजयका फल नहीं भोग सकते॥ २०॥

पञ्चालानां कुरूणां च हता एव हि ये हताः।
न चेत् सर्वानयं लोकः पश्येत् स्वेनैव कर्मणा॥ २१॥

पांचालों और कौरवोंके जो वीर मारे गये, वे तो मर ही गये; नहीं तो आज यह संसार देखता कि वे सब अपने ही पुरुषार्थसे कैसी ऊँची स्थितिमें पहुँच गये हैं॥ २१॥

वयमेवास्य लोकस्य विनाशे कारणं स्मृताः।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेषु तत् सर्वं प्रतिपत्स्यति॥ २२॥

हमलोग ही इस जगत्के विनाशमें कारण माने गये हैं; परंतु इसका सारा उत्तरदायित्व धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर ही पड़ेगा॥ २२॥

सदैव निकृतिप्रज्ञो द्वेष्टा मायोपजीवनः।
मिथ्याविनीतः सततमस्मास्वनपकारिषु॥ २३॥

हमलोगोंने कभी कोई बुराई नहीं की थी तो भी राजा धृतराष्ट्र सदा हमसे द्वेष रखते थे। उनकी बुद्धि निरन्तर हमें ठगनेकी ही बात सोचा करती थी। वे मायाका आश्रय लेनेवाले थे और झूठे ही विनय अथवा नम्रता दिखाया करते थे॥ २३॥

न सकामा वयं ते च न चास्माभिर्न तैर्जितम्।
न तैर्भुक्तेयमवनिर्न नार्यो गीतवादितम्॥ २४॥

इस युद्धसे न तो हमारी कामना सफल हुई और न वे कौरव ही सफलमनोरथ हुए। न हमारी जीत हुई, न उनकी। उन्होंने न तो इस पृथ्वीका उपभोग किया, न स्त्रियोंका सुख देखा और न गीतवाद्यका ही आनन्द लिया॥ २४॥

नामात्यसुहृदां वाक्यं न च श्रुतवतां श्रुतम्।
न रत्नानि परार्ध्यानि न भूर्न द्रविणागमः॥ २५॥

मन्त्रियों, सुहृदों तथा वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता विद्वानोंकी भी बातें वे नहीं सुन सके। बहुमूल्य रत्न, पृथ्वीके राज्य तथा धनकी आयका भी सुख भोगनेका उन्हें अवसर नहीं मिला॥ २५॥

अस्मद्द्वेषेण संतप्तः सुखं न स्मेह विन्दति।
ऋद्धिमस्मासु तां दृष्ट्वा विवर्णो हरिणः कृशः॥ २६॥

दुर्योधन हमसे द्वेष रखनेके कारण सदा संतप्त रहकर कभी यहाँ सुख नहीं पाता था। हमलोगोंके पास वैसी समृद्धि देखकर उसकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी। वह चिन्तासे सूखकर पीला और दुर्बल हो गया था॥

धृतराष्ट्रश्च नृपतिः सौबलेन निवेदितः।
तं पिता पुत्रगृद्धित्वादनुमेनेऽनये स्थितः॥ २७॥
अनपेक्ष्यैव पितरं गाङ्गेयं विदुरं तथा।

सुबलपुत्र शकुनिने राजा धृतराष्ट्रको दुर्योधनकी यह अवस्था सूचित की। पुत्रके प्रति अधिक आसक्त होनेके कारण पिता धृतराष्ट्रने अन्यायमें स्थित हो उसकी इच्छाका अनुमोदन किया। इस विषयमें उन्होंने अपने पिता (ताऊ) गंगानन्दन भीष्म तथा भाई विदुरसे राय लेनेकी भी इच्छा नहीं की॥ २७½॥

असंशयं क्षयं राजा यथैवाहं तथा गतः॥ २८॥

उनकी इसी दुर्नीतिके कारण निःसंदेह राजा धृतराष्ट्रको भी वैसा ही विनाश प्राप्त हुआ है, जैसा कि मुझे॥ २८॥

अनियम्याशुचिं लुब्धं पुत्रं कामवशानुगम्।
यशसः पतितो दीप्ताद् घातयित्वा सहोदरान्॥ २९॥

वे अपने अपवित्र आचार-विचारवाले, लोभी एवं कामासक्त पुत्रको काबूमें न रखनेके कारण उसका तथा उसके सहोदर भाइयोंका वध करवाकर स्वयं भी उज्ज्वल यशसे भ्रष्ट हो गये॥ २९॥

इमौ हि वृद्धौ शोकाग्नौ प्रक्षिप्य स सुयोधनः।
अस्मत्प्रद्वेषसंयुक्तः पापबुद्धिः सदैव ह॥ ३०॥

हमलोगोंके प्रति सदा द्वेष रखनेवाला पापबुद्धि दुर्योधन इन दोनों वृद्धोंको शोककी आगमें झोंककर चला गया॥ ३०॥

को हि बन्धुः कुलीनः संस्तथा ब्रूयात् सुहृज्जने।
यथासाववदद् वाक्यं युयुत्सुः कृष्णसंनिधौ॥ ३१॥

संधिके लिये गये हुए श्रीकृष्णके समीप युद्धकी इच्छावाले दुर्योधनने जैसी बात कही थी, वैसी कौन भाई-बन्धु कुलीन होकर भी अपने सुहृदोंके लिये कह सकता है?॥ ३१॥

आत्मनो हि वयं दोषाद् विनष्टाः शाश्वतीः समाः।
प्रदहन्तो दिशः सर्वा भास्वरा इव तेजसा॥ ३२॥

हमलोगोंने तेजसे प्रकाशित होनेवाली सम्पूर्ण दिशाओंमें मानो आग लगा दी और अपने ही दोषसे सदाके लिये नष्ट हो गये॥ ३२॥

सोऽस्माकं वैरपुरुषो दुर्मतिः प्रग्रहं गतः।
दुर्योधनकृते ह्येतत् कुलं नो विनिपातितम्॥ ३३॥

हमारे प्रति शत्रुताका मूर्तिमान् स्वरूप वह दुर्बुद्धि दुर्योधन पूर्णतः बन्धनमें बँध गया। दुर्योधनके कारण ही हमारे इस कुलका पतन हो गया॥ ३३॥

अवध्यानां वधं कृत्वा लोके प्राप्ताः स्म वाच्यताम्।
कुलस्यास्यान्तकरणं दुर्मतिं पापपूरुषम्॥ ३४॥
राजा राष्ट्रेश्वरं कृत्वा धृतराष्ट्रोऽद्य शोचति।

हमलोग अवध्य नरेशोंका वध करके संसारमें निन्दाके पात्र हो गये। राजा धृतराष्ट्र इस कुलका विनाश करनेवाले दुर्बुद्धि एवं पापात्मा दुर्योधनको इस राष्ट्रका स्वामी बनाकर आज शोककी आगमें जल रहे हैं॥ ३४½॥

हताः शूराः कृतं पापं विषयः स्वो विनाशितः॥ ३५॥
हत्वा नो विगतो मन्युः शोको मां रुन्धयत्ययम्।

हमने शूरवीरोंको मारा, पाप किया और अपने ही देशका विनाश कर डाला। शत्रुओंको मारकर हमारा क्रोध तो दूर हो गया, परंतु यह शोक मुझे निरन्तर घेरे रहता है॥ ३५½॥

धनंजय कृतं पापं कल्याणेनोपहन्यते॥ ३६॥
ख्यापनेनानुतापेन दानेन तपसापि वा।

धनंजय! किया हुआ पाप कहनेसे, शुभ कर्म करनेसे, पछतानेसे, दान करनेसे और तपस्यासे भी नष्ट होता है॥ ३६½॥

निवृत्त्या तीर्थगमनाच्छ्रुतिस्मृतिजपेन वा॥ ३७॥
त्यागवांश्च पुनः पापं नालंकर्तुमिति श्रुतिः।
त्यागवाञ्जन्ममरणे नाप्नोतीति श्रुतिर्यदा॥ ३८॥

निवृत्तिपरायण होने, तीर्थयात्रा करने तथा वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय एवं जप करनेसे भी पाप दूर होता है। श्रुतिका कथन है कि त्यागी पुरुष पाप नहीं कर सकता तथा वह जन्म और मरणके बन्धनमें भी नहीं पड़ता॥

प्राप्तवर्त्मा कृतमतिर्ब्रह्म सम्पद्यते तदा।
स धनंजय निर्द्वन्द्वो मुनिर्ज्ञानसमन्वितः॥ ३९॥

धनंजय! उसे मोक्षका मार्ग मिल जाता है और वह ज्ञानी एवं स्थिर-बुद्धि मुनि द्वन्द्वरहित होकर तत्काल ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेता है॥ ३९॥

वनमामन्त्र्य वः सर्वान् गमिष्यामि परंतप।
न हि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति श्रुतिः॥ ४०॥
परिग्रहवता तन्मे प्रत्यक्षमरिसूदन।

शत्रुओंको तपानेवाले अर्जुन! मैं तुम सब लोगोंसे बिदा लेकर वनमें चला जाऊँगा। शत्रुसूदन! श्रुति कहती है कि 'संग्रह-परिग्रहमें फँसा हुआ मनुष्य पूर्णतम धर्म (परमात्माका दर्शन) नहीं प्राप्त कर सकता।' इसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है॥ ४०½॥

मया निसृष्टं पापं हि परिग्रहमभीप्सता॥ ४१॥
जन्मक्षयनिमित्तं च प्राप्तुं शक्यमिति श्रुतिः।

मैंने परिग्रह (राज्य और धनके संग्रह) की इच्छा रखकर केवल पाप बटोरा है, जो जन्म और मृत्युका मुख्य कारण है। श्रुतिका कथन है कि 'परिग्रहसे पाप ही प्राप्त हो सकता है'॥ ४१½॥

स परिग्रहमुत्सृज्य कृत्स्नं राज्यं सुखानि च॥ ४२॥
गमिष्यामि विनिर्मुक्तो विशोको निर्ममः क्वचित्।

अतः मैं परिग्रह छोड़कर सारे राज्य और इसके सुखोंको लात मारकर बन्धनमुक्त हो शोक और ममतासे ऊपर उठकर, कहीं वनमें चला जाऊँगा॥ ४२½॥

प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं क्षेमां निहतकण्टकाम्॥ ४३॥
न ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगैर्वा कुरुनन्दन।

कुरुनन्दन! तुम इस निष्कण्टक एवं कुशल-क्षेमसे युक्त पृथ्वीका शासन करो। मुझे राज्य और भोगोंसे

कोई मतलब नहीं है॥ ४३½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कुरुराजो युधिष्ठिरः।
उपारमत् ततः पार्थः कनीयानभ्यभाषत॥ ४४॥

इतना कहकर कुरुराज युधिष्ठिर चुप हो गये। तब कुन्तीके सबसे छोटे पुत्र अर्जुनने भाषण देना आरम्भ किया॥ ४४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरपरिदेवनं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका खेदपूर्ण उद्‌गार नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७॥

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुनका युधिष्ठिरके मतका निराकरण करते हुए उन्हें धनकी महत्ता बताना और राजधर्मके पालनके लिये जोर देते हुए यज्ञानुष्ठानके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अथार्जुन उवाचेदमधिक्षिप्त इवाक्षमी।
अभिनीततरं वाक्यं दृढवादपराक्रमः॥ १॥
दर्शयन्नैन्द्रिरात्मानमुग्रमुग्रपराक्रमः।
स्मयमानो महातेजाः सृक्किणी परिसंलिहन्॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर अर्जुन इस प्रकार असहिष्णु हो उठे, मानो उनपर कोई आक्षेप किया गया हो। वे बातचीत करने या पराक्रम दिखानेमें किसीसे दबनेवाले नहीं थे। उनका पराक्रम बड़ा भयंकर था। वे महातेजस्वी इन्द्रकुमार अपने उग्ररूपका परिचय देते और दोनों गलफरोंको चाटते हुए मुसकराकर इस तरह गर्वयुक्त वचन बोलने लगे, जैसे नाटकके रंगमंचपर अभिनय कर रहे हों॥ १-२॥

अर्जुन उवाच

अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो वैक्लव्यमुत्तमम्।
यत् कृत्वामानुषं कर्म त्यजेथाः श्रियमुत्तमाम्॥ ३॥

अर्जुनने कहा—राजन्! यह तो बड़े भारी दुःख और महान् कष्टकी बात है। आपकी विह्वलता तो पराकाष्ठाको पहुँच गयी। आश्चर्य है कि आप अलौकिक पराक्रम करके प्राप्त की हुई इस उत्तम राजलक्ष्मीका परित्याग कर रहे हैं॥ ३॥

शत्रून् हत्वा महीं लब्ध्वा स्वधर्मेणोपपादिताम्।
एवंविधं कथं सर्वं त्यजेथा बुद्धिलाघवात्॥ ४॥

आपने शत्रुओंका संहार करके इस पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त किया है। यह राज्यलक्ष्मी आपको अपने धर्मके अनुसार प्राप्त हुई है। इस प्रकार जो यह सब कुछ आपके हाथमें आया है, इसे आप अपनी अल्पबुद्धिके कारण क्यों छोड़ रहे हैं?॥ ४॥

क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः।
किमर्थं च महीपालानवधीः क्रोधमूर्छितः॥ ५॥

किसी कायर या आलसीको कैसे राज्य प्राप्त हो सकता है? यदि आपको यही करना था तो किसलिये क्रोधसे विकल होकर इतने राजाओंका वध किया और कराया?॥ ५॥

यो ह्याजिजीविषेद् भैक्ष्यं कर्मणा नैव कस्यचित्।
समारम्भान् बुभूषेत हतस्वस्तिरकिंचनः।
सर्वलोकेषु विख्यातो न पुत्रपशुसंहितः॥ ६॥

जिसके कल्याणका साधन नष्ट हो गया है, जो निरा दरिद्र है, जिसकी संसारमें कोई ख्याति नहीं है, जो स्त्री-पुत्र और पशु आदिसे सम्पन्न नहीं है तथा जो असमर्थतावश अपने पराक्रमसे किसीके राज्य या धनको लेनेकी इच्छा नहीं कर सकता, उसी मनुष्यको भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करनेकी अभिलाषा रखनी चाहिये॥ ६॥

कापालीं नृप पापिष्ठां वृत्तिमासाद्य जीवतः।
संत्यज्य राज्यमृद्धं ते लोकोऽयं किं वदिष्यति॥ ७॥

नरेश्वर! जब आप यह समृद्धिशाली राज्य छोड़कर हाथमें खपड़ा लिये घर-घर भीख माँगनेकी नीचातिनीच वृत्तिका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करने लगेंगे, तब लोग आपको क्या कहेंगे?॥ ७॥

सर्वारम्भान् समुत्सृज्य हतस्वस्तिरकिंचनः।
कस्मादाशंससे भैक्ष्यं कर्तुं प्राकृतवत् प्रभो॥ ८॥

प्रभो! आप सारे उद्योग छोड़कर कल्याणके साधनोंसे हीन और अकिंचन हुए साधारण पुरुषोंके समान भीख माँगनेकी इच्छा क्यों करते हैं?॥ ८॥

अस्मिन् राजकुले जातो जित्वा कृत्स्नां वसुंधराम्।
धर्मार्थावखिलौ हित्वा वनं मौढ्यात् प्रतिष्ठसे॥ ९॥

इस राजकुलमें जन्म लेकर सारे भूमण्डलपर विजय प्राप्त करके अब सम्पूर्ण धर्म और अर्थ दोनोंको छोड़कर आप मोहके कारण ही वनमें जानेको उद्यत हुए हैं॥ ९॥

यदीमानि हवींषीह विमथिष्यन्त्यसाधवः।
भवता विप्रहीणानि प्राप्तं त्वामेव किल्बिषम्॥ १०॥

यदि आपके त्याग देनेपर यज्ञकी इन संचित सामग्रियोंको दुष्ट लोग नष्ट कर देंगे तो इसका पाप आपको ही लगेगा (अर्थात् आपने यज्ञ-याग छोड़ दिये हैं, अतः आपको आदर्श मानकर दूसरे लोग भी इस कर्मसे उदासीन हो जायँगे, उस दशामें इस धर्मकृत्यका उच्छेद हो जायगा और इसका दोष आपके सिर ही लगेगा)॥ १०॥

आकिंचन्यं मुनीनां च इति वै नहुषोऽब्रवीत्।
कृत्वा नृशंसं ह्यधने धिगस्त्वधनतामिह॥ ११॥

राजा नहुषने निर्धनावस्थामें क्रूरतापूर्ण कर्म करके यह दुःखपूर्ण उद्‌गार प्रकट किया था कि 'इस जगत्‌में निर्धनताको धिक्कार है! सर्वस्व त्यागकर निर्धन या अकिंचन हो जाना यह मुनियोंका ही धर्म है, राजाओंका नहीं'॥

अश्वस्तनमृषीणां हि विद्यते वेद तद् भवान्।
यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्तते॥ १२॥

आप भी इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि दूसरे दिनके लिये संग्रह न करके प्रतिदिन माँगकर खाना यह ऋषि-मुनियोंका ही धर्म है। जिसे राजाओंका धर्म कहा गया है, वह तो धनसे ही सम्पन्न होता है॥ १२॥

धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः।
ह्रियमाणे धने राजन् वयं कस्य क्षमेमहि॥ १३॥

राजन्! जो मनुष्य जिसका धन हर लेता है, वह उसके धर्मका भी संहार कर देता है। यदि हमारे धनका अपहरण होने लगे तो हम किसको और कैसे क्षमा कर सकते हैं?॥ १३॥

अभिशस्तं प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वतः स्थितम्।
दरिद्रं पातकं लोके न तच्छंसितुमर्हति॥ १४॥

दरिद्र मनुष्य पासमें खड़ा हो तो लोग इस तरह उसकी ओर देखते हैं, मानो वह कोई पापी या कलंकित हो; अतः दरिद्रता इस जगत्‌में एक पातक है। आप मेरे आगे उसकी प्रशंसा न करें॥ १४॥

पतितः शोच्यते राजन् निर्धनश्चापि शोच्यते।
विशेषं नाधिगच्छामि पतितस्याधनस्य च॥ १५॥

राजन्! जैसे पतित मनुष्य शोचनीय होता है, वैसे ही निर्धन भी होता है; मुझे पतित और निर्धनमें कोई अन्तर नहीं जान पड़ता॥ १५॥

अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः॥ १६॥

जैसे पर्वतोंसे बहुत-सी नदियाँ बहती रहती हैं, उसी प्रकार बढ़े हुए संचित धनसे सब प्रकारके शुभ कर्मोंका अनुष्ठान होता रहता है॥ १६॥

अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप।
प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिद्ध्यति॥ १७॥

नरेश्वर! धनसे ही धर्म, काम और स्वर्गकी सिद्धि होती है। लोगोंके जीवनका निर्वाह भी बिना धनके नहीं होता॥ १७॥

अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥ १८॥

जैसे गर्मीमें छोटी-छोटी नदियाँ सूख जाती हैं, उसी प्रकार धनहीन हुए मन्दबुद्धि मनुष्यकी सारी क्रियाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं॥ १८॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः॥ १९॥

जिसके पास धन होता है, उसीके बहुत-से मित्र होते हैं; जिसके पास धन है, उसीके भाई-बन्धु हैं; संसारमें जिसके पास धन है, वही पुरुष कहलाता है और जिसके पास धन है, वही पण्डित माना जाता है॥

अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विधित्सितुम्।
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैरिव महागजाः॥ २०॥

निर्धन मनुष्य यदि धन चाहता है तो उसके लिये धनकी व्यवस्था असम्भव हो जाती है (परंतु धनीका धन बढ़ता रहता है), जैसे जंगलमें एक हाथीके पीछे बहुत-से हाथी चले आते हैं उसी प्रकार धनसे ही धन बँधा चला आता है॥ २०॥

धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप॥ २१॥

नरेश्वर! धनसे धर्मका पालन, कामनाकी पूर्ति, स्वर्गकी प्राप्ति, हर्षकी वृद्धि, क्रोधकी सफलता, शास्त्रोंका श्रवण और अध्ययन तथा शत्रुओंका दमन—ये सभी कार्य सिद्ध होते हैं॥ २१॥

धनात् कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्धते।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम॥ २२॥

धनसे कुलकी प्रतिष्ठा बढ़ती है और धनसे ही धर्मकी वृद्धि होती है। पुरुषप्रवर! निर्धनके लिये तो न यह लोक सुखदायक होता है, न परलोक॥ २२॥

नाधनो धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति।
धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादभि नदी यथा॥ २३॥

निर्धन मनुष्य धार्मिक कृत्योंका अच्छी तरह अनुष्ठान नहीं कर सकता। जैसे पर्वतसे नदी झरती रहती है, उसी प्रकार धनसे ही धर्मका स्रोत बहता रहता है॥ २३॥

यः कृशार्थः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः।
स वै राजन् कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः॥ २४॥

राजन्! जिसके पास धनकी कमी है, गौएँ और सेवक भी कम हैं तथा जिसके यहाँ अतिथियोंका आना-जाना भी बहुत कम हो गया है, वास्तवमें वही कृश (दुर्बल) कहलाने योग्य है। जो केवल शरीरसे कृश है, उसे कृश नहीं कहा जा सकता॥ २४॥

अवेक्षस्व यथान्यायं पश्य देवासुरं यथा।
राजन् किमन्यज्जातीनां वधाद् गृद्धयन्ति देवताः॥ २५॥

आप न्यायके अनुसार विचार कीजिये और देवताओं तथा असुरोंके बर्तावपर दृष्टि डालिये। राजन्! देवता अपने जाति-भाइयोंका वध करनेके सिवा और क्या चाहते हैं (एक पिताकी संतान होनेके कारण देवता और असुर परस्पर भाई-भाई ही तो हैं)॥ २५॥

न चेद्धर्तव्यमन्यस्य कथं तद्धर्ममारभेत्।
एतावानेव वेदेषु निश्चयः कविभिः कृतः॥ २६॥
अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चिता।
सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः॥ २७॥

यदि राजाके लिये दूसरेके धनका अपहरण करना उचित नहीं है, तो वह धर्मका अनुष्ठान कैसे कर सकता है? वेदशास्त्रोंमें भी विद्वानोंने राजाके लिये यही निर्णय दिया है कि 'राजा प्रतिदिन वेदोंका स्वाध्याय करे, विद्वान् बने, सब प्रकारसे संग्रह करके धन ले आवे और यत्नपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करे'॥

द्रोहाद् देवैरवाप्तानि दिवि स्थानानि सर्वशः।
द्रोहात् किमन्यज्ज्ञातीनां गृद्धयन्ते येन देवताः॥ २८॥

जाति-भाइयोंसे द्रोह करके ही देवताओंने स्वर्ग-लोकके सभी स्थानोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया है। देवता जिससे धन या राज्य पाना चाहते हैं, वह ज्ञातिद्रोहके सिवा और क्या है?॥ २८॥

इति देवा व्यवसिता वेदवादाश्च शाश्वताः।
अधीयतेऽध्यापयन्ते यजन्ते याजयन्ति च॥ २९॥
कृत्स्नं तदेव तच्छ्रेयो यदप्याददतेऽन्यतः।
न पश्यामोऽनपकृतं धनं किंचित् क्वचिद् वयम्॥ ३०॥

यही देवताओंका निश्चय है और यही वेदोंका सनातन सिद्धान्त है। धनसे ही द्विज वेद-शास्त्रोंको पढ़ते और पढ़ाते हैं, धनके द्वारा ही यज्ञ करते और कराते हैं तथा राजा- लोग दूसरोंको युद्धमें जीतकर जो उनका धन ले आते हैं, उसीसे वे सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। किसी भी राजाके पास हम कोई भी ऐसा धन नहीं देखते हैं, जो दूसरोंका अपकार करके न लाया गया हो॥ २९-३०॥

एवमेव हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम्।
जित्वा ममेयं ब्रुवते पुत्रा इव पितुर्धनम्॥ ३१॥

इसी प्रकार सभी राजा इस पृथ्वीको जीतते हैं और जीतकर कहने लगते हैं कि 'यह मेरी है'। ठीक वैसे ही जैसे पुत्र पिताके धनको अपना बताते हैं॥ ३१॥

राजर्षयोऽपि ते स्वर्ग्या धर्मो ह्येषां निरुच्यते।
यथैव पूर्णादुदधेः स्यन्दन्त्यापो दिशो दश॥ ३२॥
एवं राजकुलाद् वित्तं पृथिवीं प्रति तिष्ठति।

प्राचीनकालमें जो राजर्षि हो गये हैं, जो कि इस समय स्वर्गमें निवास करते हैं, उनके मतमें भी राज-धर्मकी ऐसी ही व्याख्या की गयी है जैसे भरे हुए महासागरसे मेघके रूपमें उठा हुआ जल सम्पूर्ण दिशाओंमें बरस जाता है, उसी प्रकार धन राजाओंके यहाँसे निकलकर सम्पूर्ण पृथ्वीमें फैल जाता है॥ ३२½॥

आसीदियं दिलीपस्य नृगस्य नहुषस्य च॥ ३३॥
अम्बरीषस्य मान्धातुः पृथिवी सा त्वयि स्थिता।
स त्वां द्रव्यमयो यज्ञः सम्प्राप्तः सर्वदक्षिणः॥ ३४॥

पहले यह पृथ्वी बारी-बारीसे राजा दिलीप, नृग, नहुष, अम्बरीष और मान्धाताके अधिकारमें रही है, वही इस समय आपके अधीन हो गयी है। अतः आपके समक्ष सर्वस्वकी दक्षिणा देकर द्रव्यमय यज्ञके अनुष्ठान करनेका अवसर प्राप्त हुआ है॥ ३३-३४॥

तं चेन्न यजसे राजन् प्राप्तस्त्वं राज्यकिल्बिषम्।
येषां राजाश्वमेधेन यजते दक्षिणावता॥ ३५॥
उपेत्य तस्यावभृथे पूताः सर्वे भवन्ति ते।

राजन्! यदि आप यज्ञ नहीं करेंगे तो आपको सारे राज्यका पाप लगेगा। जिन देशोंके राजा दक्षिणायुक्त अश्वमेध यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन करते हैं, उनके यज्ञकी समाप्तिपर उन देशोंके सभी लोग वहाँ आकर अवभृथस्नान करके पवित्र होते हैं॥ ३५ १/२ ॥

विश्वरूपो महादेवः सर्वमेधे महामखे।
जुहाव सर्वभूतानि तथैवात्मानमात्मना॥ ३६॥

सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, उन महादेवजीने सर्वमेध नामक महायज्ञमें सम्पूर्ण भूतोंकी तथा स्वयं अपनी भी आहुति दे दी थी॥ ३६॥

शाश्वतोऽयं भूतिपथो नास्यान्तमनुशुश्रुम।
महान् दाशरथः पन्था मा राजन् कुपथं गमः॥ ३७॥

यह क्षत्रियोंके लिये कल्याणका सनातन मार्ग है। इसका कभी अन्त नहीं सुना गया है। राजन्! यह वह महान् मार्ग है, जिसपर दस रथ चलते हैं, आप किसी कुत्सित मार्गका आश्रय न लें॥ ३७॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८॥

नवमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका वानप्रस्थ एवं संन्यासीके अनुसार जीवन व्यतीत करनेका निश्चय

युधिष्ठिर उवाच

मुहूर्तं तावदेकाग्रो मनःश्रोत्रेऽन्तरात्मनि।
धारयन्नपि तच्छ्रुत्वा रोचेत वचनं मम॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—अर्जुन! तुम अपने मन और कानोंको अन्तःकरणमें स्थापित करके दो घड़ीतक एकाग्र हो जाओ, तब मेरी बात सुनकर तुम इसे पसंद करोगे॥ १॥

साधुगम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः।
गच्छेयं तद् गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत॥ २॥

मैं ग्राम्य सुखोंका परित्याग करके साधु पुरुषोंके चले हुए मार्गपर तो चल सकता हूँ; परंतु तुम्हारे आग्रहके कारण कदापि राज्य नहीं स्वीकार करूँगा॥ २॥

श्रेय्यश्चैकाकिना गम्यः पन्थाः कोऽस्तीति पृच्छ माम्।
अथवा नेच्छसि प्रष्टुमपृच्छन्नपि मे शृणु॥ ३॥

एकाकी पुरुषके चलनेयोग्य कल्याणकारी मार्ग कौन-सा है? यह मुझसे पूछो अथवा यदि पूछना नहीं चाहते हो तो बिना पूछे भी मुझसे सुनो॥ ३॥

हित्वा ग्राम्यसुखाचारं तप्यमानो महत् तपः।
अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह॥ ४॥

मैं गँवारोंके सुख और आचारपर लात मारकर वनमें रहकर अत्यन्त कठोर तपस्या करूँगा, फल-मूल खाकर मृगोंके साथ विचरूँगा॥ ४॥

जुह्वानोऽग्निं यथाकालमुभौ कालावुपस्पृशन्।
कृशः परिमिताहारश्चर्मचीरजटाधरः॥ ५॥

दोनों समय स्नान करके यथासमय अग्निहोत्र करूँगा और परिमित आहार करके शरीरको दुर्बल कर दूँगा। मृगचर्म तथा वल्कल वस्त्र धारण करके सिरपर जटा रखूँगा॥ ५॥

शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासाश्रमक्षमः।
तपसा विधिदृष्टेन शरीरमुपशोषयन्॥ ६॥

सर्दी, गर्मी और हवाको सहूँगा, भूख, प्यास और परिश्रमको सहनेका अभ्यास डालूँगा, शास्त्रोक्त तपस्या-द्वारा इस शरीरको सुखाता रहूँगा॥ ६॥

मनःकर्णसुखा नित्यं शृण्वन्नुच्चावचा गिरः।
मुदितानामरण्येषु वसतां मृगपक्षिणाम्॥ ७॥

वनमें प्रसन्नतापूर्वक निवास करनेवाले पशु-पक्षियोंकी भाँति-भाँतिकी बोली, जो मन और कानोंको सुख देनेवाली होगी, नित्य सुनता रहूँगा॥ ७॥

आजिघ्रन् पेशलान् गन्धान् फुल्लानां वृक्षवीरुधाम्।
नानारूपान् वने पश्यन् रमणीयान् वनौकसः॥ ८॥

वनमें खिले हुए वृक्षों और लताओंकी मनोहर सुगन्ध सूँघता हुआ अनेक रूपवाले सुन्दर वनवासियोंको देखा करूँगा॥ ८॥

वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम्।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किंपुनर्ग्रामवासिनाम्॥ ९॥

वहाँ वानप्रस्थ महात्माओं तथा ऋषिकुलवासी ब्रह्मचारी ऋषि-मुनियोंका भी दर्शन होगा। मैं किसी वनवासीका भी अप्रिय नहीं करूँगा; फिर ग्रामवासियोंकी तो बात ही क्या है?॥ ९॥

एकान्तशीली विमृशन् पक्वापक्वेन वर्तयन्।
पितॄन् देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन्॥ १०॥

एकान्तमें रहकर आध्यात्मिक तत्त्वका विचार

किया करूँगा और कच्चा-पक्का जैसा भी फल मिल जायगा, उसीको खाकर जीवन-निर्वाह करूँगा। जंगली फल-मूल, मधुर वाणी और जलके द्वारा देवताओं तथा पितरोंको तृप्त करता रहूँगा॥ १०॥

एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम्।
सेवमानः प्रतीक्षिष्ये देहस्यास्य समापनम्॥ ११॥

इस प्रकार वनवासी मुनियोंके लिये शास्त्रमें बताये हुए कठोर-से-कठोर नियमोंका पालन करता हुआ इस शरीरकी आयु समाप्त होनेकी बाट देखता रहूँगा॥ ११॥

अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन् वनस्पतौ।
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम्॥ १२॥

अथवा मैं मूँड़ मुड़ाकर मननशील संन्यासी हो जाऊँगा और एक-एक दिन एक-एक वृक्षसे भिक्षा माँगकर अपने शरीरको सुखाता रहूँगा॥ १२॥

पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः॥ १३॥

शरीरपर धूल पड़ी होगी और सूने घरोंमें मेरा निवास होगा अथवा किसी वृक्षके नीचे उसकी जड़में ही पड़ा रहूँगा। प्रिय और अप्रियका सारा विचार छोड़ दूँगा॥ १३॥

न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः॥ १४॥

किसीके लिये न शोक करूँगा न हर्ष। निन्दा और स्तुतिको समान समझूँगा। आशा और ममताको त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाऊँगा तथा कभी किसी वस्तुका संग्रह नहीं करूँगा॥ १४॥

आत्मारामः प्रसन्नात्मा जडान्धबधिराकृतिः।
अकुर्वाणः परैः काञ्चित् संविदं जातु कैरपि॥ १५॥

आत्माके चिन्तनमें ही सुखका अनुभव करूँगा, मनको सदा प्रसन्न रखूँगा, कभी किसी दूसरेके साथ कोई बातचीत नहीं करूँगा, गूँगों, अंधों और बहरोंके समान न किसीसे कुछ कहूँगा, न किसीको देखूँगा और न किसीकी सुनूँगा॥ १५॥

जङ्गमाजङ्गमान् सर्वानविहिंसंश्चतुर्विधान्।
प्रजाः सर्वाः स्वधर्मस्थाः समः प्राणभृतः प्रति॥ १६॥

चार प्रकारके समस्त चराचर प्राणियोंमेंसे किसीकी हिंसा नहीं करूँगा। अपने-अपने धर्ममें स्थित हुई समस्त प्रजाओं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समभाव रखूँगा॥ १६॥

न चाप्यवहसन् कञ्चिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीः क्वचित्।
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वेन्द्रियसुसंयतः॥ १७॥

न तो किसीकी हँसी उड़ाऊँगा और न किसीके प्रति भौंहोंको ही टेढ़ी करूँगा। सदा मेरे मुखपर प्रसन्नता छायी रहेगी और मैं सम्पूर्ण इन्द्रियोंको पूर्णतः संयममें रखूँगा॥ १७॥

अपृच्छन् कस्यचिन्मार्गं प्रव्रजन्नेव केनचित्।
न देशं न दिशं काञ्चिद् गन्तुमिच्छन् विशेषतः॥ १८॥

किसी भी मार्गसे चलता रहूँगा और कभी किसीसे रास्ता नहीं पूछूँगा। किसी खास स्थान या दिशाकी ओर जानेकी इच्छा नहीं रखूँगा॥ १८॥

गमने निरपेक्षश्च पश्चादनवलोकयन्।
ऋजुः प्रणिहितो गच्छंस्त्रसं स्थावरवर्जकः॥ १९॥

कहीं भी मेरे जानेका कोई विशेष उद्देश्य नहीं होगा। न आगे जानेकी उत्सुकता होगी, न पीछे फिरकर देखूँगा। सरल भावसे रहूँगा। मेरी दृष्टि अन्तर्मुखी होगी। स्थावर-जंगम जीवोंको बचाता हुआ आगे चलता रहूँगा॥ १९॥

स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे प्रभवन्त्यशनान्यपि।
द्वन्द्वानि च विरुद्धानि तानि सर्वाण्यचिन्तयन्॥ २०॥

स्वभाव आगे-आगे चलता है, भोजन भी अपने-आप प्रकट हो जाते हैं, सर्दी-गर्मी आदि जो परस्पर विरोधी द्वन्द्व हैं; वे सब आते-जाते रहते हैं, अतः इन सबकी चिन्ता छोड़ दूँगा॥ २०॥

अल्पं वास्वादु वा भोज्यं पूर्वालाभेन जातुचित्।
अन्येष्वपि चरँल्लाभमलाभे सप्त पूरयन्॥ २१॥

भिक्षा थोड़ी मिली या स्वादहीन मिली, इसका विचार न करके उसे पा लूँगा। यदि कभी एक घरसे भिक्षा नहीं मिली तो दूसरे घरोंमें भी जाऊँगा। मिल गया तो ठीक है, न मिलनेकी दशामें क्रमशः सात घरोंमें जाऊँगा, आठवेंमें नहीं जाऊँगा॥ २१॥

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसंचारे काले विगतभिक्षुके॥ २२॥
एककालं चरन् भैक्ष्यं त्रीनथ द्वे च पञ्च वा।
स्नेहपाशं विमुच्याहं चरिष्यामि महीमिमाम्॥ २३॥

जब घरोंमेंसे धुआँ निकलना बंद हो गया हो, मूसल रख दिया गया हो, चूल्हेकी आग बुझ गयी हो, घरके सब लोग खा-पी चुके हों, परोसी हुई थालीको इधर-उधर ले जानेका काम समाप्त हो गया हो और भिखमंगे भिक्षा लेकर लौट गये हों, ऐसे समयमें मैं एक ही वक्त भिक्षाके लिये दो, तीन या पाँच घरोंतक जाया करूँगा। सब ओरसे स्नेहका बन्धन तोड़कर इस पृथ्वीपर विचरता रहूँगा॥ २२-२३॥

अलाभे सति वा लाभे समदर्शी महातपाः।
न जिजीविषुवत् किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन्॥ २४॥

कुछ मिले या न मिले, दोनों ही अवस्थामें मेरी दृष्टि समान होगी। मैं महान् तपमें संलग्न रहकर ऐसा कोई आचरण नहीं करूँगा, जिसे जीने या मरनेकी इच्छावाले लोग करते हैं॥ २४॥

जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन्।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः॥ २५॥
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः।

न तो जीवनका अभिनन्दन करूँगा, न मृत्युसे द्वेष। यदि एक मनुष्य मेरी एक बाँहको बसूलेसे काटता हो और दूसरा दूसरी बाँहको चन्दनमिश्रित जलसे सींचता हो तो न पहलेका अमंगल सोचूँगा और न दूसरेकी मंगल-कामना करूँगा। उन दोनोंके प्रति समान भाव रखूँगा॥

याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः।
सर्वास्ताः समभित्यज्य निमेषादिव्यवस्थितः॥ २६॥

जीवित पुरुषके द्वारा जो कोई भी अभ्युदयकारी कर्म किये जा सकते हैं, उन सबका परित्याग करके केवल शरीर-निर्वाहके लिये पलकोंके खोलने-मींचने या खाने-पीने आदिके कार्यमें ही प्रवृत्त हो सकूँगा॥ २६॥

तेषु नित्यमसक्तश्च त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः।
सुपरित्यक्तसंकल्पः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः॥ २७॥

इन सब कार्योंमें भी आसक्त नहीं होऊँगा। सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारोंसे उपरत होकर मनको संकल्पशून्य करके अन्तःकरणका सारा मल धो डालूँगा॥ २७॥

विमुक्तः सर्वसंगेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः॥ २८॥

सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त रहकर स्नेहके सारे बन्धनोंको लाँघ जाऊँगा। किसीके अधीन न रहकर वायुके समान सर्वत्र विचरूँगा॥ २८॥

वीतरागश्चरन्नेवं तुष्टिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम्।
तृष्णया हि महत् पापमज्ञानादस्मि कारितः॥ २९॥

इस प्रकार वीतराग होकर विचरनेसे मुझे शाश्वत संतोष प्राप्त होगा। अज्ञानवश तृष्णाने मुझसे बड़े-बड़े पाप करवाये हैं॥ २९॥

कुशलाकुशलान्येके कृत्वा कर्माणि मानवाः।
कार्यकारणसंश्लिष्टं स्वजनं नाम बिभ्रति॥ ३०॥

कुछ मनुष्य शुभाशुभ कर्म करके कार्य-कारणसे साथ जुड़े हुए स्वजनोंका भरण-पोषण करते हैं॥

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्राणं कलेवरम्।
प्रतिगृह्णाति तत् पापं कर्तुः कर्मफलं हि तत्॥ ३१॥

फिर आयुके अन्तमें जीवात्मा इस प्राणशून्य शरीरको त्यागकर पहलेके किये हुए उस पापको ग्रहण करता है; क्योंकि कर्ताको ही उसके कर्मका वह फल प्राप्त होता है॥ ३१॥

एवं संसारचक्रेऽस्मिन् व्याविद्धे रथचक्रवत्।
समेति भूतग्रामोऽयं भूतग्रामेण कार्यवान्॥ ३२॥

इस प्रकार रथके पहियेके समान निरन्तर घूमते हुए इस संसारचक्रमें आकर जीवोंका यह समुदाय कार्यवश अन्य प्राणियोंसे मिलता है॥ ३२॥

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम्।
अपारमिव चास्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम्॥ ३३॥

इस संसारमें जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और वेदनाओंका आक्रमण होता ही रहता है, जिससे यहाँका जीवन कभी स्वस्थ नहीं रहता। जो अपार-सा प्रतीत होनेवाले इस संसारको त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है॥ ३३॥

दिवः पतत्सु देवेषु स्थानेभ्यश्च महर्षिषु।
को हि नाम भवेनार्थी भवेत् कारणतत्त्ववित्॥ ३४॥

जब देवता भी स्वर्गसे नीचे गिरते हैं और महर्षि भी अपने-अपने स्थानसे भ्रष्ट हो जाते हैं, तब कारण-तत्त्वको जाननेवाला कौन मनुष्य इस जन्म-मरणरूप संसारसे कोई प्रयोजन रखेगा॥ ३४॥

कृत्वा हि विविधं कर्म तत्तद् विविधलक्षणम्।
पार्थिवैर्नृपतिः स्वल्पैः कारणैरेव बध्यते॥ ३५॥

भाँति-भाँतिके भिन्न-भिन्न कर्म करके विख्यात हुआ राजा भी किन्हीं छोटे-मोटे कारणोंसे ही दूसरे राजाओंद्वारा मार डाला जाता है॥ ३५॥

तस्मात् प्रज्ञामृतमिदं चिरान्मां प्रत्युपस्थितम्।
तत् प्राप्य प्रार्थये स्थानमव्ययं शाश्वतं ध्रुवम्॥ ३६॥

आज दीर्घकालके पश्चात् मुझे यह विवेकरूपी अमृत प्राप्त हुआ है। इसे पाकर मैं अक्षय, अविकारी एवं सनातन पदको प्राप्त करना चाहता हूँ॥ ३६॥

एतया संततं धृत्या चरन्नेवंप्रकारया।
जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम्।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः॥ ३७॥

अतः इस पूर्वोक्त धारणाके द्वारा निरन्तर विचरता हुआ मैं निर्भय मार्गका आश्रय ले जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और वेदनाओंसे आक्रान्त हुए इस शरीरको अलग रख दूँगा॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये नवमोऽध्यायः॥ ९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९॥

दशमोऽध्यायः

भीमसेनका राजाके लिये संन्यासका विरोध करते हुए अपने कर्तव्यके ही पालनपर जोर देना

भीम उवाच

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी॥ १॥

भीमसेन बोले—राजन्! जैसे मन्द और अर्थज्ञानसे शून्य श्रोत्रियकी बुद्धि केवल मन्त्रपाठद्वारा मारी जाती है, उसी प्रकार आपकी बुद्धि भी तात्त्विक अर्थको देखने या समझनेवाली नहीं है॥ १॥

आलस्ये कृतचित्तस्य राजधर्मानसूयतः।
विनाशे धार्तराष्ट्राणां किं फलं भरतर्षभ॥ २॥

भरतश्रेष्ठ! यदि राजधर्मकी निन्दा करते हुए आपने आलस्यपूर्ण जीवन बितानेका ही निश्चय किया था तो धृतराष्ट्रके पुत्रोंका विनाश करानेसे क्या फल मिला?॥ २॥

क्षमानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं न विद्यते।
क्षात्रमाचरतो मार्गमपि बन्धोस्त्वदन्तरे॥ ३॥

क्षत्रियोचित मार्गपर चलनेवाले पुरुषके हृदयमें अपने भाईपर भी क्षमा, दया, करुणा और कोमलताका भाव नहीं रह जाता; फिर आपके हृदयमें यह सब क्यों है?॥ ३॥

यदीमां भवतो बुद्धिं विद्याम वयमीदृशीम्।
शस्त्रं नैव ग्रहीष्यामो न वधिष्याम कंचन॥ ४॥

यदि हम पहले ही जान लेते कि आपका विचार इस तरहका है तो हम हथियार नहीं उठाते और न किसीका वध ही करते॥ ४॥

भैक्ष्यमेवाचरिष्याम शरीरस्याविमोक्षणात्।
न चेदं दारुणं युद्धमभविष्यन्महीक्षिताम्॥ ५॥

हम भी आपकी ही तरह शरीर छूटनेतक भीख माँगकर ही जीवन-निर्वाह करते। फिर तो राजाओंमें यह भयंकर युद्ध होता ही नहीं॥ ५॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति वै कवयो विदुः।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम्॥ ६॥

विद्वान् पुरुष कहते हैं कि यह सब कुछ प्राणका अन्न है, स्थावर और जङ्गम सारा जगत् प्राणका भोजन है॥ ६॥

आददानस्य चेद् राज्यं ये केचित् परिपन्थिनः।
हन्तव्यास्त इति प्राज्ञाः क्षत्रधर्मविदो विदुः॥ ७॥

क्षत्रिय-धर्मके ज्ञाता विद्वान् पुरुष यह जानते और बताते हैं कि अपना राज्य ग्रहण करते समय जो कोई भी उसमें बाधक या विरोधी खड़े हों, उन्हें मार डालना चाहिये॥ ७॥

ते सदोषा हतास्माभी राज्यस्य परिपन्थिनः।
तान् हत्वा भुङ्क्ष्व धर्मेण युधिष्ठिर महीमिमाम्॥ ८॥

युधिष्ठिर! जो लोग हमारे राज्यके बाधक या लुटेरे थे, वे सभी अपराधी ही थे; अतः हमने उन्हें मार डाला। उन्हें मारकर धर्मतः प्राप्त हुई इस पृथ्वीका आप उपभोग कीजिये॥ ८॥

यथा हि पुरुषः खात्वा कूपमप्राप्य चोदकम्।
पङ्कदिग्धो निवर्तेत कर्मेदं नस्तथोपमम्॥ ९॥

जैसे कोई मनुष्य परिश्रम करके कुँआ खोदे और वहाँ जल न मिलनेपर देहमें कीचड़ लपेटे हुए वहाँसे निराश लौट आये, उसी प्रकार हमारा किया-कराया यह सारा पराक्रम व्यर्थ होना चाहता है॥ ९॥

यथाऽऽरुह्य महावृक्षमपहृत्य ततो मधु।
अप्राश्य निधनं गच्छेत् कर्मेदं नस्तथोपमम्॥ १०॥

जैसे कोई विशाल वृक्षपर आरूढ़ हो वहाँसे मधु उतार लाये परंतु उसे खानेके पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जाय; हमारा यह प्रयत्न भी वैसा ही हो रहा है॥ १०॥

यथा महान्तमध्वानमाशया पुरुषः पतन्।
स निराशो निवर्तेत कर्मैतन्नस्तथोपमम्॥ ११॥

जैसे कोई मनुष्य मनमें कोई आशा लेकर बहुत बड़ा मार्ग तै करे और वहाँ पहुँचनेपर निराश लौटे, हमारा यह कार्य भी उसी तरह निष्फल हो रहा है॥ ११॥

यथा शत्रून् घातयित्वा पुरुषः कुरुनन्दन।
आत्मानं घातयेत् पश्चात् कर्मेदं नस्तथोपमम्॥ १२॥

कुरुनन्दन! जैसे कोई मनुष्य शत्रुओंका वध करनेके पश्चात् अपनी भी हत्या कर डाले, हमारा यह कर्म भी वैसा ही है॥ १२॥

यथान्नं क्षुधितो लब्ध्वा न भुञ्जीयाद् यदृच्छया।
कामीव कामिनीं लब्ध्वा कर्मेदं नस्तथोपमम्॥ १३॥

जैसे भूखा मनुष्य भोजन और कामी पुरुष कामिनीको पाकर दैववश उसका उपभोग न करे, हमारा यह कर्म भी वैसा ही निष्फल हो रहा है॥ १३॥

वयमेवात्र गर्ह्या हि यद् वयं मन्दचेतसम्।
त्वां राजन्ननुगच्छामो ज्येष्ठोऽयमिति भारत॥ १४॥

भरतवंशी नरेश! हमलोग ही यहाँ निन्दाके पात्र हैं कि आप-जैसे अल्पबुद्धि पुरुषको बड़ा भाई समझकर आपके पीछे-पीछे चलते हैं॥ १४॥

वयं हि बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः।
क्लीबस्य वाक्ये तिष्ठामो यथैवाशक्तयस्तथा॥ १५॥

हम बाहुबलसे सम्पन्न, अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान् और मनस्वी हैं तो भी असमर्थ पुरुषोंके समान एक कायर भाईकी आज्ञामें रहते हैं॥ १५॥

अगतीकगतीनस्मान् नष्टार्थानर्थसिद्धये।
कथं वै नानुपश्येयुर्जनाः पश्यत यादृशम्॥ १६॥

हमलोग पहले अशरण मनुष्योंको शरण देनेवाले थे; किंतु अब हमारा ही अर्थ नष्ट हो गया है। ऐसी दशामें अर्थसिद्धिके लिये हमारा आश्रय लेनेवाले लोग हमारी इस दुर्बलतापर कैसे दृष्टि नहीं डालेंगे? बन्धुओ! मेरा कथन कैसा है? इसपर विचार करो॥ १६॥

आपत्काले हि संन्यासः कर्तव्य इति शिष्यते।
जरयाभिपरीतेन शत्रुभिर्ध्वंसितेन वा॥ १७॥

शास्त्रका उपदेश यह है कि आपत्तिकालमें या बुढ़ापेसे जर्जर हो जानेपर अथवा शत्रुओंद्वारा धन-सम्पत्तिसे वञ्चित कर दिये जानेपर मनुष्यको संन्यास ग्रहण करना चाहिये॥ १७॥

तस्मादिह कृतप्रज्ञास्त्यागं न परिचक्षते।
धर्मव्यतिक्रमं चैव मन्यन्ते सूक्ष्मदर्शिनः॥ १८॥

अतः (जब कि हमारे ऊपर पूर्वोक्त संकट नहीं आया है) विद्वान् पुरुष ऐसे अवसरमें त्याग या संन्यासकी प्रशंसा नहीं करते हैं। सूक्ष्मदर्शी पुरुष तो ऐसे समयमें क्षत्रियके लिये संन्यास लेना उलटे धर्मका उल्लंघन मानते हैं॥ १८॥

कथं तस्मात् समुत्पन्नास्तन्निष्ठास्तदुपाश्रयाः।
तदेव निन्दां भाषेयुर्धाता तत्र न गर्ह्यते॥ १९॥

इसलिये जिनकी क्षात्रधर्मके लिए उत्पत्ति हुई है, जो क्षात्रधर्ममें ही तत्पर रहते हैं, तथा क्षात्रधर्मका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे क्षत्रिय स्वयं ही उस क्षात्रधर्मकी निन्दा कैसे कर सकते हैं? इसके लिये उस विधाताकी ही निन्दा क्यों न की जाय, जिन्होंने क्षत्रियोंके लिये युद्धधर्मका विधान किया है॥ १९॥

श्रिया विहीनैरधनैर्नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम्।
वेदवादस्य विज्ञानं सत्याभासमिवानृतम्॥ २०॥

श्रीहीन, निर्धन एवं नास्तिकोंने वेदके अर्थवाद-वाक्यों द्वारा प्रतिपादित विज्ञानका आश्रय ले सत्य-सा प्रतीत होनेवाले मिथ्या मतका प्रचार किया है (वैसे उनलोगोंद्वारा क्षत्रियका संन्यासमें अधिकार नहीं सिद्ध होता है)॥ २०॥

शक्यं तु मौनमास्थाय बिभ्रताऽऽत्मानमात्मना।
धर्मच्छद्म समास्थाय च्यवितुं न तु जीवितुम्॥ २१॥

धर्मका बहाना लेकर अपनेद्वारा केवल अपना पेट पालते हुए मौनी बाबा बनकर बैठ जानेसे कर्तव्यसे भ्रष्ट होना ही सम्भव है, जीवनको सार्थक बनाना नहीं॥ २१॥

शक्यं पुनररण्येषु सुखमेकेन जीवितुम्।
अबिभ्रता पुत्रपौत्रान् देवर्षीनतिथीन् पितॄन्॥ २२॥

जो पुत्रों और पौत्रोंके पालनमें असमर्थ हो, देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंको तृप्त न कर सकता हो और अतिथियोंको भोजन देनेकी भी शक्ति न रखता हो, ऐसा मनुष्य ही अकेला जंगलोंमें रहकर सुखसे जीवन बिता सकता है (आप-जैसे शक्तिशाली पुरुषोंका यह काम नहीं है)॥ २२॥

नेमे मृगाः स्वर्गजितो न वराहा न पक्षिणः।
अथान्येन प्रकारेण पुण्यमाहुर्न तं जनाः॥ २३॥

सदा ही वनमें रहनेपर भी न तो ये मृग स्वर्गलोकपर अधिकार पा सके हैं, न सूअर और पक्षी ही। पुण्यकी प्राप्ति तो अन्य प्रकारसे ही बतलायी गयी है। श्रेष्ठ पुरुष केवल वनवासको ही पुण्यकारक नहीं मानते॥ २३॥

यदि संन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात्।
पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः॥ २४॥

यदि कोई राजा संन्याससे सिद्धि प्राप्त कर ले, तब तो पर्वत और वृक्ष बहुत जल्दी सिद्धि पा सकते हैं॥ २४॥

एते हि नित्यसंन्यासा दृश्यन्ते निरुपद्रवाः।
अपरिग्रहवन्तश्च सततं ब्रह्मचारिणः॥ २५॥

क्योंकि ये नित्य संन्यासी, उपद्रवशून्य, परिग्रहरहित तथा निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले देखे जाते हैं॥ २५॥

अथ चेदात्मभाग्येषु नान्येषां सिद्धिमश्नुते।
तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः॥ २६॥

यदि अपने भाग्यमें दूसरोंके कर्मोंसे प्राप्त हुई सिद्धि नहीं आती, तब तो सभीको कर्म ही करना चाहिये। अकर्मण्य पुरुषको कभी कोई सिद्धि नहीं मिलती॥ २६॥

औदकाः सृष्टयश्चैव जन्तवः सिद्धिमाप्नुयुः।
तेषामात्मैव भर्तव्यो नान्यः कश्चन विद्यते॥ २७॥

(यदि अपने शरीरमात्रका भरण-पोषण करनेसे सिद्धि मिलती हो, तब तो) जलमें रहनेवाले जीवों तथा स्थावर प्राणियोंको भी सिद्धि प्राप्त कर लेनी चाहिये; क्योंकि उन्हें केवल अपना ही भरण-पोषण करना रहता है। उनके पास दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जिसके भरण-पोषणका भार वे उठाते हों॥ २७॥

अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभिर्व्यापृतं जगत्।
तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः॥ २८॥

देखिये और विचार कीजिये कि सारा संसार किस तरह अपने कर्मोंमें लगा हुआ है; अतः आपको भी क्षत्रियोचित कर्तव्यका ही पालन करना चाहिये। जो कर्मोंको छोड़ बैठता है, उसे कभी सिद्धि नहीं मिलती॥ २८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमवाक्ये दशमोऽध्यायः॥ १०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीमसेनका वचनविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०॥

एकादशोऽध्यायः

अर्जुनका पक्षिरूपधारी इन्द्र और ऋषिबालकोंके संवादका उल्लेखपूर्वक गृहस्थ-धर्मके पालनपर जोर देना

अर्जुन उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
तापसैः सह संवादं शक्रस्य भरतर्षभ॥ १॥

अर्जुनने कहा—भरतश्रेष्ठ! इसी विषयमें जानकार लोग तापसोंके साथ जो इन्द्रका संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ १॥

केचिद् गृहान् परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः॥ २॥

एक समय कुछ मन्दबुद्धि कुलीन ब्राह्मण-बालक घरको छोड़कर वनमें चले आये। अभी उन्हें मूँछ-दाढ़ीतक नहीं आयी थी, उसी अवस्थामें उन्होंने घर त्याग दिया॥ २॥

धर्मोऽयमिति मन्वानाः समृद्धा ब्रह्मचारिणः।
त्यक्त्वा भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत॥ ३॥

यद्यपि वे सब-के-सब धनी थे, तथापि भाई-बन्धु और माता-पिताको छोड़कर इसीको धर्म मानते हुए वनमें आकर ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। एक दिन इन्द्रदेवने उनपर कृपा की॥ ३॥

तानाबभाषे भगवान् पक्षी भूत्वा हिरण्मयः।
सुदुष्करं मनुष्यैश्च यत् कृतं विघसाशिभिः॥ ४॥
पुण्यं भवति कर्मेदं प्रशस्तं चैव जीवितम्।
सिद्धार्थास्ते गतिं मुख्यां प्राप्ता धर्मपरायणाः॥ ५॥

भगवान् इन्द्र सुवर्णमय पक्षीका रूप धारण करके वहाँ आये और उनसे इस प्रकार कहने लगे—'यज्ञशिष्ट अन्न भोजन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंने जो कर्म किया है, वह दूसरोंसे होना अत्यन्त कठिन है। उनका यह कर्म बड़ा पवित्र और जीवन बहुत उत्तम है। वे धर्मपरायण पुरुष सफलमनोरथ हो श्रेष्ठ गतिको प्राप्त हुए हैं'॥ ४-५॥

ऋषय ऊचुः

अहो बतायं शकुनिर्विघसाशान् प्रशंसति।
अस्मान् नूनमयं शास्ति वयं च विघसाशिनः॥ ६॥

ऋषि बोले—अहो! यह पक्षी तो विघसाशी (यज्ञशेष अन्न भोजन करनेवाले) पुरुषोंकी प्रशंसा करता है। निश्चय ही यह हमलोगोंकी बड़ाई करता है; क्योंकि यहाँ हमलोग ही विघसाशी हैं॥ ६॥

शकुनिरुवाच

नाहं युष्मान् प्रशंसामि पंकदिग्धान् रजस्वलान्।
उच्छिष्टभोजिनो मन्दानन्ये वै विघसाशिनः॥ ७॥

उस पक्षीने कहा—अरे! देहमें कीचड़ लपेटे और धूल पोते हुए जूठन खानेवाले तुम-जैसे मूर्खोंकी मैं प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ। विघसाशी तो दूसरे ही होते हैं॥

ऋषय ऊचुः

इदं श्रेयः परमिति वयमेवाभ्युपास्महे।
शकुने ब्रूहि यच्छ्रेयो भृशं ते श्रद्दधामहे॥ ८॥

ऋषि बोले—पक्षी! यही श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी साधन है, ऐसा समझकर ही हम इस मार्गपर चल रहे हैं। तुम्हारी दृष्टिमें जो श्रेष्ठ धर्म हो, उसे तुम्हीं बताओ। हम तुम्हारी बातपर अधिक श्रद्धा करते हैं॥ ८॥

शकुनिरुवाच

यदि मां नाभिशंकध्वं विभज्यात्मानमात्मना।
ततोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं हितं वचः॥ ९॥

पक्षीने कहा—यदि आपलोग मुझपर संदेह न करें तो मैं स्वयं ही अपने आपको वक्ताके रूपमें विभक्त करके आपलोगोंको यथावत्‌रूपसे हितकी बात बताऊँगा॥ ९॥

ऋषय ऊचुः

शृणुमस्ते वचस्तात पन्थानो विदितास्तव।
नियोगे चैव धर्मात्मन् स्थातुमिच्छाम शाधि नः॥ १०॥

ऋषि बोले—तात! हम तुम्हारी बात सुनेंगे। तुम्हें सब मार्ग विदित हैं। धर्मात्मन्! हम तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहना चाहते हैं। तुम हमें उपदेश दो॥ १०॥

शकुनिरुवाच

चतुष्पदां गौः प्रवरा लोहानां काञ्चनं वरम्।
शब्दानां प्रवरो मन्त्रो ब्राह्मणो द्विपदां वरः॥ ११॥

पक्षीने कहा—चौपायोंमें गौ श्रेष्ठ है, धातुओंमें सोना उत्तम है, शब्दोंमें मन्त्र उत्कृष्ट है और मनुष्योंमें ब्राह्मण प्रधान है॥ ११॥

मन्त्रोऽयं जातकर्मादिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
जीवतोऽपि यथाकालं श्मशाननिधनादिभिः॥ १२॥

ब्राह्मणोंके लिये मन्त्रयुक्त जातकर्म आदि संस्कारका विधान है। वह जबतक जीवित रहे, समय-समयपर उसके आवश्यक संस्कार होते रहने चाहिये, मरनेपर भी यथासमय श्मशानभूमिमें अन्त्येष्टिसंस्कार तथा घरपर श्राद्ध आदि वैदिक विधिके अनुसार सम्पन्न होने चाहिये॥ १२॥

कर्माणि वैदिकान्यस्य स्वर्ग्यः पन्थास्त्वनुत्तमः।
अथ सर्वाणि कर्माणि मन्त्रसिद्धानि चक्षते॥ १३॥
आम्नायदृढवादीनि तथा सिद्धिरिहेष्यते।
मासार्धमासा ऋतव आदित्यशशितारकम्॥ १४॥
ईहन्ते सर्वभूतानि तदिदं कर्मसंज्ञितम्।
सिद्धिक्षेत्रमिदं पुण्यमयमेवाश्रमो महान्॥ १५॥

वैदिक कर्म ही ब्राह्मणके लिये स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाले उत्तम मार्ग हैं। इसके सिवा, मुनियोंने समस्त कर्मोंको वैदिक मन्त्रोंद्वारा ही सिद्ध होनेवाला बताया है। वेदमें इन कर्मोंका प्रतिपादन दृढ़तापूर्वक किया गया है; इसलिये उन कर्मोंके अनुष्ठानसे ही यहाँ अभीष्ट-सिद्धि होती है। मास, पक्ष, ऋतु, सूर्य, चन्द्रमा और तारोंसे उपलक्षित जो यज्ञ होते हैं, उन्हें यथासम्भव सम्पन्न करनेकी चेष्टा प्रायः सभी प्राणी करते हैं। उनका सम्पादन ही कर्म कहलाता है। जहाँ ये कर्म किये जाते हैं, वह गृहस्थ-आश्रम ही सिद्धिका पुण्यमय क्षेत्र है और यही सबसे महान् आश्रम है॥ १३-१५॥

अथ ये कर्म निन्दन्तो मनुष्याः कापथं गताः।
मूढानामर्थहीनानां तेषामेनस्तु विद्यते॥ १६॥

जो मनुष्य कर्मकी निन्दा करते हुए कुमार्गका आश्रय लेते हैं, उन पुरुषार्थहीन मूढ़ पुरुषोंको पाप लगता है॥ १६॥

देववंशान् पितृवंशान् ब्रह्मवंशांश्च शाश्वतान्।
सन्त्यज्य मूढा वर्तन्ते ततो यान्त्यश्रुतीपथम्॥ १७॥

देवसमूह और पितृसमूहोंका यजन तथा ब्रह्मवंश (वेद-शास्त्र आदिके स्वाध्यायद्वारा ऋषि-मुनियों)-की तृप्ति—ये तीन ही सनातन मार्ग हैं। जो मूर्ख इनका परित्याग करके और किसी मार्गसे चलते हैं, वे वेदविरुद्ध पथका आश्रय लेते हैं॥ १७॥

एतद्वोऽस्तु तपोयुक्तं ददामीत्यृषिचोदितम्।
तस्मात् तत् तद् व्यवस्थानं तपस्वितप उच्यते॥ १८॥

मन्त्रद्रष्टा ऋषिने एक मन्त्रमें कहा है कि 'यह यज्ञरूप कर्म तुम सब यजमानोंद्वारा सम्पादित हो, परंतु यह होना चाहिये तपस्यासे युक्त। तुम इसका अनुष्ठान करोगे तो मैं तुम्हें मनोवांछित फल प्रदान करूँगा।' अतः उन-उन वैदिक कर्मोंमें पूर्णतः संलग्न हो जाना ही तपस्वीका 'तप' कहलाता है॥ १८॥

देववंशान् ब्रह्मवंशान् पितृवंशांश्च शाश्वतान्।
संविभज्य गुरोश्चर्यां तद् वै दुष्करमुच्यते॥ १९॥

हवन-कर्मके द्वारा देवताओंको, स्वाध्यायद्वारा ब्रह्मर्षियोंको तथा श्राद्धद्वारा सनातन पितरोंको उनका भाग समर्पित करके गुरुकी परिचर्या करना दुष्कर व्रत कहलाता है॥ १९॥

देवा वै दुष्करं कृत्वा विभूतिं परमां गताः।
तस्माद् गार्हस्थ्यमुद्वोढुं दुष्करं प्रब्रवीमि वः॥ २०॥

इस दुष्कर व्रतका अनुष्ठान करके देवताओंने उत्तम वैभव प्राप्त किया है। यह गृहस्थधर्मका पालन ही दुष्कर व्रत है। मैं तुमलोगोंसे इसी दुष्कर व्रतका भार उठानेके लिये कह रहा हूँ॥ २०॥

तपः श्रेष्ठं प्रजानां हि मूलमेतन्न संशयः।
कुटुम्बविधिनानेन यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ २१॥

तपस्या श्रेष्ठ कर्म है। इसमें संदेह नहीं कि यही प्रजावर्गका मूल कारण है। परंतु गार्हस्थ्यविधायक शास्त्रके अनुसार इस गार्हस्थ्य-धर्ममें ही सारी तपस्या प्रतिष्ठित है॥ २१॥

एतद् विदुस्तपो विप्रा द्वन्द्वातीता विमत्सराः।
तस्माद् व्रतं मध्यमं तु लोकेषु तप उच्यते॥ २२॥

जिनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं है, जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित हैं, वे ब्राह्मण इसीको तप मानते हैं। यद्यपि लोकमें व्रतको भी तप कहा जाता है, किंतु वह पंचयज्ञके अनुष्ठानकी अपेक्षा मध्यम श्रेणीका है॥ २२॥

दुराधर्षं पदं चैव गच्छन्ति विघसाशिनः।
सायंप्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि॥ २३॥
दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः॥ २४॥

सुवर्णमय पक्षीके रूपमें देवराज इन्द्रका संन्यासी बने हुए ब्राह्मण-बालकोंको उपदेश

क्योंकि विघसाशी पुरुष प्रातः-सायंकाल विधि-विधानपूर्वक अपने कुटुम्बमें अन्नका विभाग करके दुर्जय अविनाशी पदको प्राप्त कर लेते हैं। देवताओं, पितरों, अतिथियों तथा अपने परिवारके अन्य सब लोगोंको अन्न देकर जो सबसे पीछे अवशिष्ट अन्न खाते हैं, उन्हें विघसाशी कहा गया है॥ २३-२४॥

तस्मात् स्वधर्ममास्थाय सुव्रताः सत्यवादिनः।
लोकस्य गुरवो भूत्वा ते भवन्त्यनुपस्कृताः॥ २५॥

इसलिये अपने धर्मपर आरूढ़ हो उत्तम व्रतका पालन और सत्यभाषण करते हुए वे जगद्गुरु होकर सर्वथा संदेहरहित हो जाते हैं॥ २५॥

त्रिदिवं प्राप्य शक्रस्य स्वर्गलोके विमत्सराः।
वसन्ति शाश्वतान् वर्षाञ्जना दुष्करकारिणः॥ २६॥

वे ईर्ष्यारहित दुष्कर व्रतका पालन करनेवाले पुण्यात्मा पुरुष इन्द्रके स्वर्गलोकमें पहुँचकर अनन्त वर्षोंतक वहाँ निवास करते हैं॥ २६॥

अर्जुन उवाच

ततस्ते तद् वचः श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम्।
उत्सृज्य नास्तीति गता गार्हस्थ्यं समुपाश्रिताः॥ २७॥

अर्जुन कहते हैं—महाराज! वे ब्राह्मणकुमार पक्षिरूपधारी इन्द्रकी धर्म और अर्थयुक्त हितकर बातें सुनकर इस निश्चयपर पहुँचे कि हमलोग जिस मार्गपर चल रहे हैं वह हमारे लिये हितकर नहीं है। अतः वे उसे छोड़कर घर लौट गये और गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे॥ २७॥

तस्मात्त्वमपि सर्वज्ञ धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम्।
प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां हतामित्रां नरोत्तम॥ २८॥

सर्वज्ञ नरश्रेष्ठ! अतः आप भी सदाके लिये धैर्य धारण करके शत्रुहीन हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कीजिये॥ २८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये ऋषिशकुनिसंवादकथने एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनके वचनके प्रसंगमें ऋषियों और पक्षिरूपधारी इन्द्रके संवादका वर्णनविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११॥

द्वादशोऽध्यायः

नकुलका गृहस्थ-धर्मकी प्रशंसा करते हुए राजा युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा नकुलो वाक्यमब्रवीत्।
राजानमभिसम्प्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरम्॥ १॥
अनुरुध्य महाप्राज्ञो भ्रातुश्चित्तमरिंदम।
व्यूढोरस्को महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनकी बात सुनकर नकुलने भी सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरकी ओर देखकर कुछ कहनेको उद्यत हुए। शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय! महाबाहु नकुल बड़े बुद्धिमान् थे। उनकी छाती चौड़ी, मुख ताम्रवर्णका था। वे बड़े मितभाषी थे। उन्होंने भाईके चित्तका अनुसरण करते हुए कहा॥ १-२॥

नकुल उवाच

विशाखयूपे देवानां सर्वेषामग्नयश्चिताः।
तस्माद् विद्धि महाराज देवाः कर्मफले स्थिताः॥ ३॥

नकुल बोले—महाराज! विशाखयूप नामक क्षेत्रमें सम्पूर्ण देवताओंद्वारा की हुई अग्निस्थापनाके चिह्न (ईंटोंकी बनी हुई वेदियाँ) मौजूद हैं। इससे आपको यह समझना चाहिये कि देवता भी वैदिक कर्मों और उनके फलोंपर विश्वास करते हैं॥ ३॥

अनास्तिकानां भूतानां प्राणदाः पितरश्च ये।
तेऽपि कर्मैव कुर्वन्ति विधिं सम्प्रेक्ष्य पार्थिव॥ ४॥

राजन्! आस्तिकताकी बुद्धिसे रहित समस्त प्राणियोंके प्राणदाता पितर भी शास्त्रके विधिवाक्योंपर दृष्टि रखकर कर्म ही करते हैं॥ ४॥

वेदवादापविद्धांस्तु तान् विद्धि भृशनास्तिकान्।
न हि वेदोक्तमुत्सृज्य विप्रः सर्वेषु कर्मसु॥ ५॥
देवयानेन नाकस्य पृष्ठमाप्नोति भारत।

भारत! जो वेदोंकी आज्ञाके विरुद्ध चलते हैं, उन्हें बड़ा भारी नास्तिक समझिये। वेदकी आज्ञाका उल्लंघन करके सब प्रकारके कर्म करनेपर भी कोई ब्राह्मण देवयान मार्गके द्वारा स्वर्गलोककी पृष्ठभूमिमें पैर नहीं रख सकता॥ ५½॥

अत्याश्रमानयं सर्वानित्याहुर्वेदनिश्चयाः॥ ६॥
ब्राह्मणाः श्रुतिसम्पन्नास्तान् निबोध नराधिप।

यह गृहस्थ-आश्रम सब आश्रमोंसे ऊँचा है। यह

बात वेदोंके सिद्धान्तको जाननेवाले श्रुतिसम्पन्न ब्राह्मण कहते हैं। नरेश्वर! आप उनकी सेवामें उपस्थित होकर इस बातको समझिये॥ ६½ ॥

वित्तानि धर्मलब्धानि क्रतुमुख्येष्ववासृजन्॥ ७॥
कृतात्मा स महाराज स वै त्यागी स्मृतो नरः॥ ८॥

महाराज! जो धर्मसे प्राप्त किये हुए धनका श्रेष्ठ यज्ञोंमें उपयोग करता है और अपने मनको वशमें रखता है, वह मनुष्य त्यागी माना गया है॥ ७-८॥

अनवेक्ष्य सुखादानं तथैवोर्ध्वं प्रतिष्ठितः।
आत्मत्यागी महाराज स त्यागी तामसो मतः॥ ९॥

महाराज! जिसने गृहस्थ-आश्रमके सुखभोगोंको कभी नहीं देखा, फिर भी जो ऊपरवाले वानप्रस्थ आदि आश्रमोंमें प्रतिष्ठित होकर देहत्याग करता है, उसे तामस त्यागी माना गया है॥ ९॥

अनिकेतः परिपतन् वृक्षमूलाश्रयो मुनिः।
अपाचकः सदा योगी स त्यागी पार्थ भिक्षुकः॥ १०॥

पार्थ! जिसका कोई घर-बार नहीं, जो इधर-उधर विचरता और चुपचाप किसी वृक्षके नीचे उसकी जड़पर सो जाता है, जो अपने लिये कभी रसोई नहीं बनाता और सदा योगपरायण रहता है, ऐसे त्यागीको भिक्षुक कहते हैं॥ १०॥

क्रोधहर्षावनादृत्य पैशुन्यं च विशेषतः।
विप्रो वेदानधीते यः स त्यागी पार्थ उच्यते॥ ११॥

कुन्तीनन्दन! जो ब्राह्मण क्रोध, हर्ष और विशेषतः चुगलीकी अवहेलना करके सदा वेदोंके स्वाध्यायमें लगा रहता है, वह त्यागी कहलाता है॥ ११॥

आश्रमांस्तुलया सर्वान् धृतानाहुर्मनीषिणः।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः॥ १२॥

राजन्! कहते हैं कि एक समय मनीषी पुरुषोंने चारों आश्रमोंको (विवेकके) तराजूपर रखकर तौला था। एक ओर तो अन्य तीनों आश्रम थे और दूसरी ओर अकेला गृहस्थ-आश्रम था॥ १२॥

समीक्ष्य तुलया पार्थ कामं स्वर्गं च भारत।
अयं पन्था महर्षीणामियं लोकविदां गतिः॥ १३॥

भरतवंशी नरेश! पार्थ! इस प्रकार विवेककी तुलापर रखकर जब देखा गया तो गृहस्थ-आश्रम ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ; क्योंकि वहाँ भोग और स्वर्ग दोनों सुलभ थे। तबसे उन्होंने निश्चय किया कि 'यही मुनियोंका मार्ग है और यही लोकवेत्ताओंकी गति है'॥

इति यः कुरुते भावं स त्यागी भरतर्षभ।
न यः परित्यज्य गृहान् वनमेति विमूढवत्॥ १४॥

भरतश्रेष्ठ! जो ऐसा भाव रखता है, वही त्यागी है। जो मूर्खकी तरह घर छोड़कर वनमें चला जाता है, वह त्यागी नहीं है॥ १४॥

यदा कामान् समीक्षेत धर्मवैतंसिको नरः।
अथैनं मृत्युपाशेन कण्ठे बध्नाति मृत्युराट्॥ १५॥

वनमें रहकर भी यदि धर्मध्वजी मनुष्य काम-भोगोंपर दृष्टिपात (उनका स्मरण) करता है तो यमराज उसके गलेमें मौतका फंदा डाल देते हैं॥ १५॥

अभिमानकृतं कर्म नैतत् फलवदुच्यते।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम्॥ १६॥

महाराज! यही कर्म यदि अभिमानपूर्वक किया जाय तो वह सफल नहीं होता, और त्यागपूर्वक किया हुआ सारा कर्म ही महान् फलदायक होता है॥ १६॥

शमो दमस्तथा धैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम्।
यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः॥ १७॥

शम, दम, धैर्य, सत्य, शौच, सरलता, यज्ञ, धृति तथा धर्म—इन सबका ऋषियोंके लिये निरन्तर पालन करनेका विधान है॥ १७॥

पितृदेवातिथिकृते समारम्भोऽत्र शस्यते।
अत्रैव हि महाराज त्रिवर्गः केवलं फलम्॥ १८॥

महाराज! गृहस्थ-आश्रममें ही देवताओं, पितरों तथा अतिथियोंके लिये किये जानेवाले आयोजनकी प्रशंसा की जाती है। केवल यहीं धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों सिद्ध होते हैं॥ १८॥

एतस्मिन् वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते।
त्यागिनः प्रसृतस्येह नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित्॥ १९॥

यहाँ रहकर वेदविहित विधिका पालन करनेवाले निष्ठावान् त्यागीका कभी विनाश नहीं होता—वह पारलौकिक उन्नतिसे कभी वञ्चित नहीं रहता॥ १९॥

असृजद्धि प्रजा राजन् प्रजापतिरकल्मषः।
मां यक्ष्यन्तीति धर्मात्मा यज्ञैर्विविधदक्षिणैः॥ २०॥

राजन्! पापरहित धर्मात्मा प्रजापतिने इस उद्देश्यसे प्रजाओंकी सृष्टि की कि 'ये नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करेंगी'॥ २०॥

वीरुधश्चैव वृक्षांश्च यज्ञार्थं वै तथौषधीः।
पशूंश्चैव तथा मेध्यान् यज्ञार्थानि हवींषि च॥ २१॥

इसी उद्देश्यसे उन्होंने यज्ञसम्पादनके लिये नाना प्रकारकी लता-बेलों, वृक्षों, ओषधियों, मेध्य पशुओं तथा यज्ञार्थक हविष्योंकी भी सृष्टि की है॥ २१॥

गृहस्थाश्रमिणस्तच्च यज्ञकर्म विरोधकम्।
तस्माद् गार्हस्थ्यमेवेह दुष्करं दुर्लभं तथा॥ २२॥

वह यज्ञकर्म गृहस्थाश्रमी पुरुषको एक मर्यादाके भीतर बाँध रखनेवाला है; इसलिये गार्हस्थ्यधर्म ही इस संसारमें दुष्कर और दुर्लभ है॥ २२॥

तत् सम्प्राप्य गृहस्था ये पशुधान्यधनान्विताः।
न यजन्ते महाराज शाश्वतं तेषु किल्बिषम्॥ २३॥

महाराज! जो गृहस्थ उसे पाकर पशु और धन-धान्यसे सम्पन्न होते हुए भी यज्ञ नहीं करते हैं, उन्हें सदा ही पापका भागी होना पड़ता है॥ २३॥

स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथा परे।
अथापरे महायज्ञान् मनस्येव वितन्वते॥ २४॥

कुछ ऋषि वेद-शास्त्रोंका स्वाध्यायरूप यज्ञ करनेवाले होते हैं, कुछ ज्ञानयज्ञमें तत्पर रहते हैं और कुछ लोग मनमें ही ध्यानरूपी महान् यज्ञोंका विस्तार करते हैं॥ २४॥

एवं मनःसमाधानं मार्गमातिष्ठतो नृप।
द्विजातेर्ब्रह्मभूतस्य स्पृहयन्ति दिवौकसः॥ २५॥

नरेश्वर! चित्तको एकाग्र करना-रूप जो साधन है उसका आश्रय लेकर ब्रह्मभूत हुए द्विजके दर्शनकी अभिलाषा देवता भी रखते हैं॥ २५॥

स रत्नानि विचित्राणि संहृतानि ततस्ततः।
मखेष्वनभिसंत्यज्य नास्तिक्यमभिजल्पसि॥ २६॥

इधर-उधरसे जो विचित्र रत्न संग्रह करके लाये गये हैं, उनका यज्ञोंमें वितरण न करके आप नास्तिकताकी बातें कर रहे हैं॥ २६॥

कुटुम्बमास्थिते त्यागं न पश्यामि नराधिप।
राजसूयाश्वमेधेषु सर्वमेधेषु वा पुनः॥ २७॥

नरेश्वर! जिसपर कुटुम्बका भार हो, उसके लिये त्यागका विधान नहीं देखनेमें आता है। उसे तो राजसूय, अश्वमेध अथवा सर्वमेध यज्ञोंमें प्रवृत्त होना चाहिये॥ २७॥

ये चान्ये क्रतवस्तात ब्राह्मणैरभिपूजिताः।
तैर्यजस्व महीपाल शक्रो देवपतिर्यथा॥ २८॥

भूपाल! इनके सिवा जो दूसरे भी ब्राह्मणोंद्वारा प्रशंसित यज्ञ हैं, उनके द्वारा देवराज इन्द्रके समान आप भी यज्ञपुरुषकी आराधना कीजिये॥ २८॥

राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम्।
अशरण्यः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते॥ २९॥

राजाके प्रमाददोषसे लुटेरे प्रबल होकर प्रजाको लूटने लगते हैं, उस अवस्थामें यदि राजाने प्रजाको शरण नहीं दी तो उसे मूर्तिमान् कलियुग कहा गया है॥ २९॥

अश्वान् गाश्चैव दासीश्च करेणूश्च स्वलंकृताः।
ग्रामाञ्जनपदांश्चैव क्षेत्राणि च गृहाणि च॥ ३०॥
अप्रदाय द्विजातिभ्यो मात्सर्याविष्टचेतसः।
वयं ते राजकलयो भविष्याम विशाम्पते॥ ३१॥

प्रजानाथ! यदि हमलोग ईर्ष्यायुक्त मनवाले होकर ब्राह्मणोंको घोड़े, गाय, दासी, सजी-सजायी हथिनी, गाँव, जनपद, खेत और घर आदिका दान नहीं करते हैं तो राजाओंमें कलियुग समझे जायँगे॥ ३०-३१॥

अदातारः शरण्याश्च राजकिल्बिषभागिनः।
दोषाणामेव भोक्तारो न सुखानां कदाचन॥ ३२॥

जो दान नहीं देते, शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते, वे राजाओंके पापके भागी होते हैं। उन्हें दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है, सुख तो कभी नहीं मिलता॥ ३२॥

अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम्।
तीर्थेष्वनभिसम्प्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत् प्रभो॥ ३३॥
छिन्नाभ्रमिव गन्तासि विलयं मारुतेरितम्।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः॥ ३४॥

प्रभो! बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान, पितरोंका श्राद्ध तथा तीर्थोंमें स्नान किये बिना ही आप संन्यास ले लेंगे तो हवा-द्वारा छिन्न-भिन्न हुए बादलोंके समान नष्ट हो जायँगे। लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट होकर (त्रिशंकुके समान) बीचमें ही लटके रह जायँगे॥ ३३-३४॥

अन्तर्बहिश्च यत् किंचिन्मनोव्यासंगकारकम्।
परित्यज्य भवेत् त्यागी न हित्वा प्रतितिष्ठति॥ ३५॥

बाहर और भीतर जो कुछ भी मनको फँसानेवाली चीजें हैं, उन सबको छोड़नेसे मनुष्य त्यागी होता है। केवल घर छोड़ देनेसे त्यागकी सिद्धि नहीं होती॥ ३५॥

एतस्मिन् वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते।
ब्राह्मणस्य महाराज नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित्॥ ३६॥

महाराज! इस गृहस्थ-आश्रममें ही रहकर वेद-विहित कर्ममें लगे हुए ब्राह्मणका कभी उच्छेद (पतन) नहीं होता॥ ३६॥

निहत्य शत्रूंस्तरसा समृद्धान्
शक्रो यथा दैत्यबलानि संख्ये।
कः पार्थ शोचेन्निरतः स्वधर्मे
पूर्वैः स्मृते पार्थिव शिष्टजुष्टे॥ ३७॥

कुन्तीनन्दन! जैसे इन्द्र युद्धमें दैत्योंकी सेनाओंका संहार करते हैं, उसी प्रकार जो वेगपूर्वक बढ़े-चढ़े शत्रुओंका वध करके विजय पा चुका हो और पूर्ववर्ती राजाओंद्वारा सेवित अपने धर्ममें तत्पर रहता हो, ऐसा (आपके सिवा) कौन राजा शोक करेगा?॥ ३७॥

क्षात्रेण धर्मेण पराक्रमेण
जित्वा महीं मन्त्रविद्भ्यः प्रदाय।
नाकस्य पृष्ठेऽसि नरेन्द्र गन्ता
न शोचितव्यं भवताद्य पार्थ॥ ३८॥

नरेन्द्र! कुन्तीकुमार! आप क्षत्रियधर्मके अनुसार पराक्रमद्वारा इस पृथ्वीपर विजय पाकर मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंको यज्ञमें बहुत-सी दक्षिणाएँ देकर स्वर्गसे भी ऊपर चले जायँगे? अतः आज आपको शोक नहीं करना चाहिये॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि नकुलवाक्ये द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें नकुलवाक्यविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

सहदेवका युधिष्ठिरको ममता और आसक्तिसे रहित होकर राज्य करनेकी सलाह देना

सहदेव उवाच

न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा॥ १॥

सहदेव बोले—भरतनन्दन! केवल बाहरी द्रव्यका त्याग कर देनेसे सिद्धि नहीं मिलती, शरीरसम्बन्धी द्रव्यका त्याग करनेसे भी सिद्धि मिलती है या नहीं; इसमें संदेह है॥ १॥

बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेष्वनुगृध्यतः।
यो धर्मो यत् सुखं वा स्याद् द्विषतां तत् तथास्तु नः॥ २॥

बाहरी द्रव्योंसे दूर होकर दैहिक सुख-भोगोंमें आसक्त रहनेवालेको जो धर्म अथवा जो सुख प्राप्त होता हो, वह उस रूपमें हमारे शत्रुओंको ही मिले॥ २॥

शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य पृथिवीमनुशासतः।
यो धर्मो यत् सुखं वा स्यात् सुहृदां तत् तथास्तु नः॥ ३॥

परंतु शरीरके उपयोगमें आनेवाले द्रव्योंकी ममता त्यागकर अनासक्तभावसे पृथिवीका शासन करनेवाले राजाको जिस धर्म अथवा जिस सुखकी प्राप्ति होती हो, वह हमारे हितैषी सुहृदोंको मिले॥ ३॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥ ४॥

दो अक्षरोंका 'मम' (यह मेरा है—ऐसा भाव) मृत्यु है, और तीन अक्षरोंका 'न मम' (यह मेरा नहीं है—ऐसा भाव) अमृत—सनातन ब्रह्म है॥ ४॥

ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव समाश्रितौ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम्॥ ५॥

राजन्! इससे सूचित होता है कि मृत्यु और अमृत-ब्रह्म दोनों अपने ही भीतर स्थित हैं। वे ही अदृश्यभावसे रहकर प्राणियोंको एक-दूसरेसे लड़ाते हैं, इसमें संशय नहीं है॥ ५॥

अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत।
हत्वा शरीरं भूतानां न हिंसा प्रतिपत्स्यते॥ ६॥

भरतनन्दन! यदि इस जीवात्माका अविनाशी होना निश्चित है, तब तो प्राणियोंके शरीरका वध करनेमात्रसे उनकी हिंसा नहीं हो सकेगी॥ ६॥

अथापि च सहोत्पत्तिः सत्त्वस्य प्रलयस्तथा।
नष्टे शरीरे नष्टः स्याद् वृथा च स्यात् क्रियापथः॥ ७॥

इसके विपरीत यदि शरीरके साथ ही जीवकी उत्पत्ति तथा उसके नष्ट होनेके साथ ही जीवका नाश होना माना जाय तब तो शरीर नष्ट होनेपर जीव भी नष्ट ही हो जायगा; उस दशामें सारा वैदिक कर्ममार्ग ही व्यर्थ सिद्ध होगा॥ ७॥

तस्मादेकान्तमुत्सृज्य पूर्वैः पूर्वतरैश्च यः।
पन्था निषेवितः सद्भिः स निषेव्यो विजानता॥ ८॥

इसलिये विज्ञ पुरुषको एकान्तमें रहनेका विचार छोड़कर पूर्ववर्ती तथा अत्यन्त पूर्ववर्ती श्रेष्ठ पुरुषोंने जिस मार्गका सेवन किया है, उसीका आश्रय लेना चाहिये॥ ८॥

(स्वायम्भुवेन मनुना तथान्यैश्चक्रवर्तिभिः।
यद्ययं ह्यधमः पन्थाः कस्मात् तैस्तैर्निषेवितः॥

यदि आपकी दृष्टिमें गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए राज्यशासन करना अधम मार्ग है तो स्वायम्भुव मनु तथा उन-उन अन्य चक्रवर्ती नरेशोंने इसका सेवन क्यों किया था?॥

कृतत्रेतादियुक्तानि गुणवन्ति च भारत।
युगानि बहुशस्तैश्च भुक्तेयमवनी नृप॥)

भरतवंशी नरेश! उन नरपतियोंने उत्तम गुणवाले सत्ययुग-त्रेता आदि अनेक युगोंतक इस पृथ्वीका उपभोग किया है॥

लब्ध्वापि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजंगमाम्।
न भुंक्ते यो नृपःसम्यङ् निष्फलं तस्य जीवितम्॥ ९॥

जो राजा चराचर प्राणियोंसे युक्त इस सारी पृथ्वीको पाकर इसका अच्छे ढंगसे उपभोग नहीं करता, उसका जीवन निष्फल है॥ ९॥

अथवा वसतो राजन् वने वन्येन जीवतः।
द्रव्येषु यस्य ममता मृत्योरास्ये स वर्तते॥ १०॥

अथवा राजन्! वनमें रहकर वनके ही फल-फूलोंसे जीवन-निर्वाह करते हुए भी जिस पुरुषकी द्रव्योंमें ममता बनी रहती है, वह मौतके ही मुखमें है॥ १०॥

बाह्यान्तरं च भूतानां स्वभावं पश्य भारत।
ये तु पश्यन्ति तद् भूतं मुच्यन्ते ते महाभयात्॥ ११॥

भरतनन्दन! प्राणियोंका बाह्य स्वभाव कुछ और होता है और आन्तरिक स्वभाव कुछ और। आप उसपर गौर कीजिये। जो सबके भीतर विराजमान परमात्माको देखते हैं, वे महान् भयसे मुक्त हो जाते हैं॥ ११॥

भवान् पिता भवान् माता भवान् भ्राता भवान् गुरुः।
दुःखप्रलापानार्तस्य तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि॥ १२॥

प्रभो! आप मेरे पिता, माता, भ्राता और गुरु हैं। मैंने आर्त होकर दुःखमें जो-जो प्रलाप किये हैं, उन सबको आप क्षमा करें॥ १२॥

तथ्यं वा यदि वातथ्यं यन्मयैतत् प्रभाषितम्।
तद् विद्धि पृथिवीपाल भक्त्या भरतसत्तम॥ १३॥

भरतवंशभूषण भूपाल! मैंने जो कुछ भी कहा है, वह यथार्थ हो या अयथार्थ, आपके प्रति भक्ति होनेके कारण ही ये बातें मेरे मुँहसे निकली हैं, यह आप अच्छी तरह समझ लें॥ १३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सहदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सहदेववाक्यविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १५ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

द्रौपदीका युधिष्ठिरको राजदण्डधारणपूर्वक पृथ्वीका शासन करनेके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अव्याहरति कौन्तेये धर्मराजे युधिष्ठिरे।
भ्रातॄणां ब्रुवतां तांस्तान् विविधान् वेदनिश्चयान्॥ १॥
महाभिजनसम्पन्ना श्रीमत्यायतलोचना।
अभ्यभाषत राजेन्द्र द्रौपदी योषितां वरा॥ २॥
आसीनमृषभं राज्ञां भ्रातृभिः परिवारितम्।
सिंहशार्दूलसदृशैर्वारणैरिव यूथपम्॥ ३॥
अभिमानवती नित्यं विशेषेण युधिष्ठिरे।
लालिता सततं राज्ञा धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी॥ ४॥
आमन्त्र्य विपुलश्रोणी साम्ना परमवल्गुना।
भर्तारमभिसम्प्रेक्ष्य ततो वचनमब्रवीत्॥ ५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अपने भाइयोंके मुखसे नाना प्रकारके वेदोंके सिद्धान्तोंको सुनकर भी जब कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर कुछ नहीं बोले, तब महान् कुलमें उत्पन्न हुई, युवतियोंमें श्रेष्ठ, स्थूल नितम्ब और विशाल नेत्रोंवाली, पतियों एवं विशेषतः राजा युधिष्ठिरके प्रति अभिमान रखनेवाली, राजाकी सदा ही लाड़िली, धर्मपर दृष्टि रखनेवाली तथा धर्मको जाननेवाली कोमती महारानी द्रौपदी हाथियोंसे घिरे हुए यूथपति गजराजकी भाँति सिंहशार्दूल-सदृश पराक्रमी भाइयोंसे घिरकर बैठे हुए पतिदेव नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरकी ओर देखकर उन्हें सम्बोधित करके सान्त्वनापूर्ण परम मधुर वाणीमें इस प्रकार बोलीं॥ १—५॥

द्रौपद्युवाच

इमे ते भ्रातरः पार्थ शुष्यन्ते स्तोकका इव।
वावाश्यमानास्तिष्ठन्ति न चैनानभिनन्दसे॥ ६॥

कुन्तीकुमार! आपके ये भाई आपका संकल्प सुनकर सूख गये हैं; पपीहोंके समान आपसे राज्य करनेकी रट लगा रहे हैं; फिर भी आप इनका अभिनन्दन नहीं करते?॥

नन्दयैतान् महाराज मत्तानिव महाद्विपान्।
उपपन्नेन वाक्येन सततं दुःखभागिनः॥ ७॥

महाराज! उन्मत्त गजराजोंके समान आपके ये बन्धु सदा आपके लिये दुःख-ही-दुःख उठाते आये हैं। अब तो इन्हें युक्तियुक्त वचनोंद्वारा आनन्दित कीजिये॥ ७॥

कथं द्वैतवने राजन् पूर्वमुक्त्वा तथा वचः।
भ्रातॄनेतान् स्म सहितान् शीतवातातपार्दितान्॥ ८॥
वयं दुर्योधनं हत्वा मृधे भोक्ष्याम मेदिनीम्।
सम्पूर्णा सर्वकामानामाहवे विजयैषिणः॥ ९॥
विरथांश्च रथान् कृत्वा निहत्य च महागजान्।
संस्तीर्य च रथैर्भूमिं ससादिभिररिंदमाः॥ १०॥
यजतां विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः।
वनवासकृतं दुःखं भविष्यति सुखाय वः॥ ११॥
इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं स्वयं धर्मभृतां वर।
कथमद्य पुनर्वीर विनिहंसि मनांसि नः॥ १२॥

राजन्! द्वैतवनमें ये सभी भाई जब आपके साथ सर्दी-गर्मी और आँधी-पानीका कष्ट भोग रहे थे, उन दिनों आपने इन्हें धैर्य देते हुए कहा था—'शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर बन्धुओ! विजयकी इच्छावाले हमलोग युद्धमें दुर्योधनको मारकर रथियोंको रथहीन करके बड़े-बड़े हाथियोंका वध कर डालेंगे और घुड़सवारसहित रथोंसे इस पृथ्वीको पाट देंगे। तत्पश्चात् सम्पूर्ण भोगोंसे सम्पन्न वसुधाका उपभोग करेंगे। उस समय पर्याप्त दान-दक्षिणावाले नाना प्रकारके समृद्धिशाली यज्ञोंके द्वारा भगवान्‌की आराधनामें लगे रहनेसे तुमलोगोंका यह वनवासजनित दुःख सुखरूपमें परिणत हो जायगा।' धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ! वीर महाराज! पहले द्वैतवनमें इन भाइयोंसे स्वयं ही ऐसी बातें कहकर आज क्यों आप फिर हमलोगोंका दिल तोड़ रहे हैं॥ ८—१२॥

न क्लीबो वसुधां भुङ्क्ते न क्लीबो धनमश्नुते।
न क्लीबस्य गृहे पुत्रा मत्स्याः पंक इवासते॥ १३॥

जो कायर और नपुंसक है, वह पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता। वह न तो धनका उपार्जन कर सकता है और न उसे भोग ही सकता है। जैसे केवल कीचड़में मछलियाँ नहीं होतीं, उसी प्रकार नपुंसकके घरमें पुत्र नहीं होते॥ १३॥

नादण्डः क्षत्रियो भाति नादण्डो भूमिमश्नुते।
नादण्डस्य प्रजा राज्ञः सुखं विन्दन्ति भारत॥ १४॥

जो दण्ड देनेकी शक्ति नहीं रखता, उस क्षत्रियकी शोभा नहीं होती, दण्ड न देनेवाला राजा इस पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता। भारत! दण्डहीन राजाकी प्रजाओंको कभी सुख नहीं मिलता है॥ १४॥

मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः।
ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम॥ १५॥

नृपश्रेष्ठ! समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव, दान लेना, देना, अध्ययन और तपस्या—यह ब्राह्मणका ही धर्म है, राजाका नहीं॥ १५॥

असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम्।
एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम्॥ १६॥

राजाओंका परम धर्म तो यही है कि वे दुष्टोंको दण्ड दें, सत्पुरुषोंका पालन करें और युद्धमें कभी पीठ न दिखावें॥ १६॥

यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये।
निग्रहानुग्रहौ चोभौ स वै धर्मविदुच्यते॥ १७॥

जिसमें समयानुसार क्षमा और क्रोध दोनों प्रकट होते हैं, जो दान देता और कर लेता है, जिसमें शत्रुओंको भय दिखाने और शरणागतोंको अभय देनेकी शक्ति है, जो दुष्टोंको दण्ड देता और दीनोंपर अनुग्रह करता है, वही धर्मज्ञ कहलाता है॥ १७॥

न श्रुतेन न दानेन न सान्त्वेन न चेज्यया।
त्वयेयं पृथिवी लब्धा न संकोचेन चाप्युत॥ १८॥

आपको यह पृथिवी न तो शास्त्रोंके श्रवणसे मिली है, न दानमें प्राप्त हुई है, न किसीको समझाने-बुझानेसे उपलब्ध हुई है, न यज्ञ करानेसे और न कहीं भीख माँगनेसे ही प्राप्त हुई है॥ १८॥

यत् तद् बलममित्राणां तथा वीर्यसमुद्यतम्।
हस्त्यश्वरथसम्पन्नं त्रिभिरङ्गैरनुत्तमम्॥ १९॥
रक्षितं द्रोणकर्णाभ्यामश्वत्थाम्ना कृपेण च।
तत् त्वया निहतं वीर तस्माद् भुङ्क्ष्व वसुन्धराम्॥ २०॥

वह जो शत्रुओंकी पराक्रम-सम्पन्न एवं श्रेष्ठ सेना हाथी, घोड़े और रथ तीनों अंगोंसे सम्पन्न थी तथा द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य जिसकी रक्षा करते थे, उसका आपने वध किया है, तब यह पृथ्वी आपके अधिकारमें आयी है। अतः वीर! आप इसका उपभोग करें॥

जम्बूद्वीपो महाराज नानाजनपदैर्युतः।
त्वया पुरुषशार्दूल दण्डेन मृदितः प्रभो॥ २१॥

प्रभो! महाराज! पुरुषसिंह! आपने अनेक जनपदोंसे युक्त इस जम्बूद्वीपको अपने दण्डसे रौंद डाला है॥ २१॥

जम्बूद्वीपेन सदृशः क्रौञ्चद्वीपो नराधिप।
अधरेण महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया॥ २२॥

नरेश्वर! जम्बूद्वीपके समान ही क्रौञ्चद्वीपको जो महामेरुसे पश्चिम है, आपने दण्डसे कुचल दिया है॥ २२॥

क्रौञ्चद्वीपेन सदृशः शाकद्वीपो नराधिप।
पूर्वेण तु महामेरोर्दण्डेन मृदितास्त्वया॥ २३॥

नरेन्द्र! क्रौञ्चद्वीपके समान ही शाकद्वीपको जो महामेरुसे पूर्व है, आपने दण्ड देकर दबा दिया है॥ २३॥

उत्तरेण महामेरोः शाकद्वीपेन सम्मितः।
भद्राश्वः पुरुषव्याघ्र दण्डेन मृदितस्त्वया॥ २४॥

पुरुषसिंह! महामेरुसे उत्तर शाकद्वीपके बराबर ही जो भद्राश्व वर्ष है, उसे भी आपके दण्डसे दबना पड़ा है॥

द्वीपाश्च सान्तरद्वीपा नानाजनपदाश्रयाः।
विगाह्य सागरं वीर दण्डेन मृदितास्त्वया॥ २५॥

वीर! इनके अतिरिक्त भी जो बहुत-से देशोंके आश्रयभूत द्वीप और अन्तर्द्वीप हैं, समुद्र लाँघकर उन्हें भी आपने दण्डद्वारा दबाकर अपने अधिकारमें कर लिया है॥ २५॥

एतान्यप्रतिमेयानि कृत्वा कर्माणि भारत।
न प्रीयसे महाराज पूज्यमानो द्विजातिभिः॥ २६॥

भरतनन्दन! महाराज! आप ऐसे-ऐसे अनुपम पराक्रम करके द्विजातियोंद्वारा सम्मानित होकर भी प्रसन्न नहीं हो रहे हैं?॥ २६॥

स त्वं भ्रातॄनिमान् दृष्ट्वा प्रतिनन्दस्व भारत।
ऋषभानिव सम्मत्तान् गजेन्द्रानूर्जितानिव॥ २७॥

भारत! मतवाले साँड़ों और बलशाली गजराजोंके समान अपने इन भाइयोंको देखकर आप इनका अभिनन्दन कीजिये॥ २७॥

अमरप्रतिमाः सर्वे शत्रुसाहाः परंतपाः।
एकोऽपि हि सुखायैषां मम स्यादिति मे मतिः॥ २८॥
किं पुनः पुरुषव्याघ्र पतयो मे नरर्षभाः।
समस्तानीन्द्रियाणीव शरीरस्य विचेष्टने॥ २९॥

पुरुषसिंह! शत्रुओंको संताप देनेवाले आपके ये सभी भाई शत्रु-सैनिकोंका वेग सहन करनेमें समर्थ हैं, देवताओंके समान तेजस्वी हैं, मेरा विश्वास है कि इनमेंसे एक वीर भी मुझे पूर्ण सुखी बना सकता है,फिर ये मेरे पाँचों नरश्रेष्ठ पति क्या नहीं कर सकते हैं? शरीरको चेष्टाशील बनानेमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंका जो स्थान है, वही मेरे जीवनको सुखी बनानेमें इन सबका है॥ २८-२९॥

अनृतं नाब्रवीच्छ्वश्रूः सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी।
युधिष्ठिरस्त्वां पाञ्चालि सुखे धास्यत्यनुत्तमे॥ ३०॥
हत्वा राजसहस्राणि बहून्याशुपराक्रमः।
तद् व्यर्थं सम्प्रपश्यामि मोहात् तव जनाधिप॥ ३१॥

महाराज! मेरी सास कभी झूठ नहीं बोलीं। वे सर्वज्ञ हैं और सब कुछ देखनेवाली हैं। उन्होंने मुझसे कहा था—'पाञ्चालराजकुमारि! युधिष्ठिर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम दिखानेवाले हैं। ये कई सहस्र राजाओंका संहार करके तुम्हें सुखके सिंहासनपर प्रतिष्ठित करेंगे।' किंतु जनेश्वर! आज आपका यह मोह देखकर मुझे अपनी सासकी कही हुई बात भी व्यर्थ होती दिखायी देती है॥

येषामुन्मत्तको ज्येष्ठः सर्वे तेऽप्यनुसारिणः।
तवोन्मादान्महाराज सोन्मादाः सर्वपाण्डवाः॥ ३२॥

जिनका जेठा भाई उन्मत्त हो जाता है, वे सभी उसीका अनुकरण करने लगते हैं। महाराज! आपके उन्मादसे सारे पाण्डव भी उन्मत्त हो गये हैं॥ ३२॥

यदि हि स्युरनुन्मत्ता भ्रातरस्ते नराधिप।
बद्ध्वा त्वां नास्तिकैः सार्धं प्रशासेयुर्वसुन्धराम्॥ ३३॥

नरेश्वर! यदि ये आपके भाई उन्मत्त नहीं हुए होते तो नास्तिकोंके साथ आपको भी बाँधकर स्वयं इस वसुधाका शासन करते॥ ३३॥

कुरुते मूढ एवं हि यः श्रेयो नाधिगच्छति।
धूपैरञ्जनयोगैश्च नस्यकर्मभिरेव च॥ ३४॥
भेषजैः स चिकित्स्यः स्याद् य उन्मार्गेण गच्छति।

जो मूर्ख इस प्रकारका काम करता है, वह कभी कल्याणका भागी नहीं होता। जो उन्मादग्रस्त होकर उलटे मार्गसे चलने लगता है, उसके लिये धूपकी सुगंध देकर, आँखोंमें सिद्ध अंजन लगाकर, नाकमें सुँघनी सुँघाकर अथवा और कोई औषध खिलाकर उसके रोगकी चिकित्सा करनी चाहिये॥ ३४½॥

साहं सर्वाधमा लोके स्त्रीणां भरतसत्तम॥ ३५॥
तथा विनिकृता पुत्रैर्याहमिच्छामि जीवितुम्।

भरतश्रेष्ठ! मैं ही संसारकी सब स्त्रियोंमें अधम हूँ, जो कि पुत्रोंसे हीन हो जानेपर भी जीवित रहना चाहती हूँ॥ ३५½॥

एतेषां यतमानानां न मेऽद्य वचनं मृषा॥ ३६॥
त्वं तु सर्वां महीं त्यक्त्वा कुरुषे स्वयमापदम्।

ये सब लोग आपको समझानेका प्रयत्न कर रहे हैं, फिर भी आप ध्यान नहीं देते। मैं इस समय जो कुछ कह रही हूँ मेरी यह बात झूठी नहीं है। आप सारी पृथ्वीका राज्य छोड़कर अपने लिये स्वयं ही विपत्ति खड़ी कर रहे हैं॥ ३६½॥

यथाऽऽस्तां सम्मतौ राज्ञां पृथिव्यां राजसत्तम॥ ३७॥
मान्धाता चाम्बरीषश्च तथा राजन् विराजसे।

नृपश्रेष्ठ! जैसे मान्धाता और अम्बरीष भूमण्डलके समस्त राजाओंमें सम्मानित थे, राजन्! वैसे ही आप भी सुशोभित हो रहे हैं॥ ३७½॥

प्रशाधि पृथिवीं देवीं प्रजा धर्मेण पालयन्॥ ३८॥
सपर्वतवनद्वीपां मा राजन् विमना भव।

नरेश्वर! धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए पर्वत, वन और द्वीपोंसहित पृथ्वी देवीका शासन कीजिये। इस प्रकार उदासीन न होइये॥ ३८½॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्युध्यस्वारीन् प्रयच्छ च।
धनानि भोगान् वासांसि द्विजातिभ्यो नृपोत्तम॥ ३९॥

नृपश्रेष्ठ! नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान और शत्रुओंके साथ युद्ध कीजिये। ब्राह्मणोंको धन, भोगसामग्री और वस्त्रोंका दान कीजिये॥ ३९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा राजदण्डकी महत्ताका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्।
अनुमान्य महाबाहुं ज्येष्ठं भ्रातरमच्युतम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! द्रुपदकुमारीका यह वचन सुनकर अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले बड़े भाई महाबाहु युधिष्ठिरका सम्मान करते हुए अर्जुनने फिर इस प्रकार कहा॥ १॥

अर्जुन उवाच

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ २॥

अर्जुन बोले—राजन्! दण्ड समस्त प्रजाओंका शासन करता है, दण्ड ही उनकी सब ओरसे रक्षा करता है, सबके सो जानेपर भी दण्ड जागता रहता है; इसलिये विद्वान् पुरुषोंने दण्डको राजाका धर्म माना है॥ २॥

दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप।
कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते॥ ३॥

जनेश्वर! दण्ड ही धर्म और अर्थकी रक्षा करता है, वही कामका भी रक्षक है, अतः दण्ड त्रिवर्गरूप कहा जाता है॥ ३॥

दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते।
एवं विद्वानुपाधत्स्व भावं पश्यस्व लौकिकम्॥ ४॥

दण्डसे धान्यकी रक्षा होती है, उसीसे धनकी भी रक्षा होती है; ऐसा जानकर आप भी दण्ड धारण कीजिये और जगत्के व्यवहारपर दृष्टि डालिये॥ ४॥

राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि॥ ५॥
परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम्॥ ६॥

कितने ही पापी राजदण्डके भयसे पाप नहीं करते हैं। कुछ लोग यमदण्डके भयसे, कोई परलोकके भयसे और कितने ही पापी आपसमें एक-दूसरेके भयसे पाप नहीं करते हैं। जगत्की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है; इसलिये सब कुछ दण्डमें ही प्रतिष्ठित है॥ ५-६॥

दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम्।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत्॥ ७॥

बहुत-से मनुष्य दण्डके ही भयसे एक-दूसरेको खा नहीं जाते हैं, यदि दण्ड रक्षा न करे तो सब लोग घोर अन्धकारमें डूब जायँ॥ ७॥

यस्माददान्तान् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि।
दमनाद् दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः॥ ८॥

यह उद्दण्ड मनुष्योंका दमन करता और दुष्टोंको दण्ड देता है, अतः उस दमन और दण्डके कारण ही विद्वान् पुरुष इसे दण्ड कहते हैं॥ ८॥

वाचा दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां भुजार्पणम्।
दानदण्डाः स्मृता वैश्या निर्दण्डः शूद्र उच्यते॥ ९॥

यदि ब्राह्मण अपराध करे तो वाणीसे उसको अपमानित करना ही उसका दण्ड है, क्षत्रियको भोजनमात्रके लिये वेतन देकर उससे काम लेना उसका दण्ड है, वैश्योंसे जुर्मानाके रूपमें धन वसूल करना उनका दण्ड है, परंतु शूद्र दण्डरहित कहा गया है। उससे सेवा लेनेके सिवा और कोई दण्ड उसके लिये नहीं है॥ ९॥

असम्मोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशाम्पते॥ १०॥

प्रजानाथ! मनुष्योंको प्रमादसे बचाने और उनके धनकी रक्षा करनेके लिये लोकमें जो मर्यादा स्थापित की गयी है, उसीका नाम दण्ड है॥ १०॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति सूद्यतः।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ते नेता चेत् साधु पश्यति॥ ११॥

दण्डनीयपर ऐसी जोरकी मार पड़ती है कि उसकी आँखोंके सामने अँधेरा छा जाता है; इसलिये दण्डको काला कहा गया है। दण्ड देनेवालेकी आँखें क्रोधसे लाल रहती हैं; इसलिये उसे लोहिताक्ष कहते हैं। ऐसा दण्ड जहाँ सर्वथा शासनके लिये उद्यत होकर विचरता रहता है और नेता या शासक अच्छी तरह अपराधोंपर दृष्टि रखता है, वहाँ प्रजा प्रमाद नहीं करती॥ ११॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः॥ १२॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये सभी मनुष्य दण्डके ही भयसे अपने-अपने मार्गपर स्थिर रहते हैं॥ १२॥

नाभीतो यजते राजन् नाभीतो दातुमिच्छति।
नाभीतः पुरुषः कश्चित् समये स्थातुमिच्छति॥ १३॥

राजन्! बिना भयके कोई यज्ञ नहीं करता है, बिना भयके कोई दान नहीं करना चाहता है, और दण्डका भय न हो तो कोई पुरुष मर्यादा या प्रतिज्ञाके पालनपर भी स्थिर नहीं रहना चाहता है॥ १३॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥ १४॥

मछली मारनेवाले मल्लाहोंकी तरह दूसरोंके मर्मस्थानोंका उच्छेद और दुष्कर कर्म किये बिना तथा बहुसंख्यक प्राणियोंको मारे बिना कोई बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं प्राप्त कर सकता॥ १४॥

नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः।
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत॥ १५॥

जो दूसरोंका वध नहीं करता, उसे इस संसारमें न तो कीर्ति मिलती है, न धन प्राप्त होता है और न प्रजा ही उपलब्ध होती है। इन्द्र वृत्रासुरका वध करनेसे ही महेन्द्र हो गये॥ १५॥

य एव देवा हन्तारस्ताँल्लोकोऽर्चयते भृशम्।
हन्ता रुद्रस्तथा स्कन्दः शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः॥ १६॥
हन्ता कालस्तथा वायुर्मृत्युर्वैश्रवणो रविः।
वसवो मरुतः साध्या विश्वेदेवाश्च भारत॥ १७॥
एतान् देवान् नमस्यन्ति प्रतापप्रणता जनाः।

जो देवता दूसरोंका वध करनेवाले हैं, उन्हींकी संसार अधिक पूजा करता है। रुद्र, स्कन्द, इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम, काल, वायु, मृत्यु, कुबेर, सूर्य, वसु, मरुद्गण, साध्य तथा विश्वेदेव—ये सब देवता दूसरोंका वध करते हैं; इनके प्रतापके सामने नतमस्तक होकर सब लोग इन्हें नमस्कार करते हैं॥ १६-१७½॥

न ब्रह्माणं न धातारं न पूषाणं कथंचन॥ १८॥
मध्यस्थान् सर्वभूतेषु दान्तान् शमपरायणान्।
यजन्ते मानवाः केचित् प्रशान्ताः सर्वकर्मसु॥ १९॥

परंतु ब्रह्मा, धाता और पूषाकी कोई किसी तरह भी पूजा-अर्चा नहीं करते हैं; क्योंकि वे सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समभाव रखनेके कारण मध्यस्थ, जितेन्द्रिय एवं शान्तिपरायण हैं। जो शान्त स्वभावके मनुष्य हैं, वे ही समस्त कर्मोंमें इन धाता आदिकी पूजा करते हैं॥

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कञ्चिदहिंसया।
सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः॥ २०॥

संसारमें किसी भी ऐसे पुरुषको मैं नहीं देखता जो अहिंसासे जीविका चलाता हो। क्योंकि प्रबल जीव दुर्बल जीवोंद्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं॥ २०॥

नकुलो मूषिकानत्ति बिडालो नकुलं तथा।
बिडालमत्ति श्वा राजन् श्वानं व्यालमृगस्तथा॥ २१॥

राजन्! नेवला चूहेको खा जाता है और नेवलेको बिलाव। बिलावको कुत्ता और कुत्तेको चीता चबा जाता है॥ २१॥

तानत्ति पुरुषः सर्वान् पश्य कालो यथागतः।
प्राणस्यान्नमिदं सर्वं जङ्गमं स्थावरं च यत्॥ २२॥

परंतु इन सबको मनुष्य मारकर खा जाता है। देखो, कैसा काल आ गया है? यह सम्पूर्ण चराचर जगत् प्राणका अन्न है॥ २२॥

विधानं दैवविहितं तत्र विद्वान् न मुह्यति।
यथा सृष्टोऽसि राजेन्द्र तथा भवितुमर्हसि॥ २३॥

यह सब दैवका विधान है। इसमें विद्वान् पुरुषको मोह नहीं होता है। राजेन्द्र! आपको विधाताने जैसा बनाया है, (जिस जाति और कुलमें आपको जन्म दिया है) वैसा ही आपको होना चाहिये॥ २३॥

विनीतक्रोधहर्षा हि मन्दा वनमुपाश्रिताः।
विना वधं न कुर्वन्ति तापसाः प्राणयापनम्॥ २४॥

जिनमें क्रोध और हर्ष दोनों ही नहीं रह गये हैं, वे मन्दबुद्धि क्षत्रिय वनमें जाकर तपस्वी बन जाते हैं। परंतु बिना हिंसा किये वे भी जीवन-निर्वाह नहीं कर पाते हैं॥ २४॥

उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च।
न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत् प्राणयापनात्॥ २५॥

जलमें बहुतेरे जीव हैं, पृथ्वीपर तथा वृक्षके फलोंमें भी बहुत-से कीड़े होते हैं। कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है, जो इनमेंसे किसीको कभी न मारता हो। यह सब जीवन-निर्वाहके सिवा और क्या है?॥ २५॥

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः॥ २६॥

कितने ही ऐसे सूक्ष्म योनिके जीव हैं जो अनुमानसे ही जाने जाते हैं। मनुष्यकी पलकोंके गिरनेमात्रसे जिनके कंधे टूट जाते हैं (ऐसे जीवोंकी हिंसासे कोई कहाँ-तक बच सकता है?)॥ २६॥

ग्रामान् निष्क्रम्य मुनयो विगतक्रोधमत्सराः।
वने कुटुम्बधर्माणो दृश्यन्ते परिमोहिताः॥ २७॥

कितने ही मुनि क्रोध और ईर्ष्यासे रहित हो गाँवसे निकलकर वनमें चले जाते हैं, और वहीं मोहवश गृहस्थधर्ममें अनुरक्त दिखायी देते हैं॥ २७॥

भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्त्वा वृक्षादीनण्डजान् पशून्।
मनुष्यास्तन्वते यज्ञांस्ते स्वर्गं प्राप्नुवन्ति च॥ २८॥

मनुष्य धरतीको खोदकर तथा ओषधियों, वृक्षों, लताओं, पक्षियों और पशुओंका उच्छेद करके यज्ञका अनुष्ठान करते हैं, और वे स्वर्गमें भी चले जाते हैं॥

दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः।
कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः॥ २९॥

कुन्तीनन्दन! दण्डनीतिका ठीक-ठीक प्रयोग होनेपर समस्त प्राणियोंके सभी कार्य अच्छी तरह सिद्ध होते हैं, इसमें मुझे संशय नहीं है॥ २९॥

दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः॥ ३०॥

यदि संसारमें दण्ड न रहे तो यह सारी प्रजा नष्ट हो जाय; और जैसे जलमें बड़े मत्स्य छोटी मछलियोंको खा जाते हैं उसी प्रकार प्रबल जीव दुर्बल जीवोंको अपना आहार बना लें॥ ३०॥

सत्यं चेदं ब्रह्मणा पूर्वमुक्तं
दण्डः प्रजा रक्षति साधु नीतः।
पश्याग्नयश्च प्रतिशाम्य भीताः
संतर्जिता दण्डभयाज्ज्वलन्ति॥ ३१॥

ब्रह्माजीने पहले ही इस सत्यको बता दिया है कि अच्छी तरह प्रयोगमें लाया हुआ दण्ड प्रजाजनोंकी रक्षा करता है। देखो, जब आग बुझने लगती है तब वह फूँककी फटकार पड़नेपर डर जाती और दण्डके भयसे फिर प्रज्वलित हो उठती है॥ ३१॥

अन्धं तम इवेदं स्यान्न प्राज्ञायत किंचन।
दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी॥ ३२॥

यदि संसारमें भले-बुरेका विभाग करनेवाला दण्ड न हो तो सब जगह अंधेर मच जाय और किसीको कुछ सूझ न पड़े॥ ३२॥

येऽपि सम्भिन्नमर्यादा नास्तिका वेदनिन्दकाः।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनाशु निपीडिताः॥ ३३॥

जो धर्मकी मर्यादा नष्ट करके वेदोंकी निन्दा करनेवाले नास्तिक मनुष्य हैं, वे भी डंडे पड़नेपर उससे पीड़ित हो शीघ्र ही राहपर आ जाते हैं—मर्यादापालनके लिये तैयार हो जाते हैं॥ ३३॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः।
दण्डस्य हि भयाद् भीतो भोगायैव प्रवर्तते॥ ३४॥

सारा जगत् दण्डसे विवश होकर ही रास्तेपर रहता है; क्योंकि स्वभावतः सर्वथा शुद्ध मनुष्य मिलना कठिन है। दण्डके भयसे डरा हुआ मनुष्य ही मर्यादा-पालनमें प्रवृत्त होता है॥ ३४॥

चातुर्वर्ण्यप्रमोदाय सुनीतिनयनाय च।
दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुम्॥ ३५॥

विधाताने दण्डका विधान इस उद्देश्यसे किया है कि चारों वर्णोंके लोग आनन्दसे रहें, सबमें अच्छी नीतिका बर्ताव हो तथा पृथ्वीपर धर्म और अर्थकी रक्षा रहे॥

यदि दण्डान्न बिभ्येयुर्वयांसि श्वापदानि च।
अद्युः पशून् मनुष्यांश्च यज्ञार्थानि हवींषि च॥ ३६॥

यदि पक्षी और हिंसक जीव दण्डके भयसे डरते न होते तो वे पशुओं, मनुष्यों और यज्ञके लिये रखे हुए हविष्योंको खा जाते॥ ३६॥

न ब्रह्मचार्यधीयीत कल्याणी गौर्न दुह्यते।
न कन्योद्वहनं गच्छेद् यदि दण्डो न पालयेत्॥ ३७॥

यदि दण्ड मर्यादाकी रक्षा न करे तो ब्रह्मचारी वेदोंके अध्ययनमें न लगे, सीधी गौ भी दूध न दुहावे और कन्या ब्याह न करे॥ ३७॥

विष्वग्लोपः प्रवर्तेत भिद्येरन् सर्वसेतवः।
ममत्वं न प्रजानीयुर्यदि दण्डो न पालयेत्॥ ३८॥

यदि दण्ड मर्यादाका पालन न करावे तो चारों ओरसे धर्म-कर्मका लोप हो जाय, सारी मर्यादाएँ टूट जायँ और लोग यह भी न जानें कि कौन वस्तु मेरी है और कौन नहीं?॥ ३८॥

न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः।
विधिवद् दक्षिणावन्ति यदि दण्डो न पालयेत्॥ ३९॥

यदि दण्ड धर्मका पालन न करावे तो विधि-पूर्वक दक्षिणाओंसे युक्त संवत्सरयज्ञ भी बेखटके न होने पावे॥ ३९॥

चरेयुर्नाश्रमे धर्मं यथोक्तं विधिमाश्रिताः।
न विद्यां प्राप्नुयात् कश्चिद् यदि दण्डो न पालयेत्॥ ४०॥

यदि दण्ड मर्यादाका पालन न करावे तो लोग

आश्रमोंमें रहकर विधिपूर्वक शास्त्रोक्त धर्मका पालन न करें और कोई विद्या भी न पढ़ सके॥ ४०॥

न चोष्ट्रा न बलीवर्दा नाश्वाश्वतरगर्दभाः।
युक्ता वहेयुर्यानानि यदि दण्डो न पालयेत्॥ ४१॥

यदि दण्ड कर्तव्यका पालन न करावे तो ऊँट, बैल, घोड़े, खच्चर और गदहे रथोंमें जोत दिये जानेपर भी उन्हें ढोकर ले न जायँ॥ ४१॥

न प्रेष्या वचनं कुर्युर्न बाला जातु कर्हिचित्।
न तिष्ठेद् युवती धर्मे यदि दण्डो न पालयेत्॥ ४२॥

यदि दण्ड धर्म और कर्तव्यका पालन न करावे तो सेवक स्वामीकी बात न माने, बालक भी कभी माँ-बापकी आज्ञाका पालन न करें और युवती स्त्री भी अपने सतीधर्ममें स्थिर न रहे॥ ४२॥

दण्डे स्थिताः प्रजाः सर्वा भयं दण्डे विदुर्बुधाः।
दण्डे स्वर्गो मनुष्याणां लोकोऽयं सुप्रतिष्ठितः॥ ४३॥

दण्डपर ही सारी प्रजा टिकी हुई है, दण्डसे ही भय होता है, ऐसी विद्वानोंकी मान्यता है। मनुष्योंका इहलोक और स्वर्गलोक दण्डपर ही प्रतिष्ठित है॥ ४३॥

न तत्र कूटं पापं वा वञ्चना वापि दृश्यते।
यत्र दण्डः सुविहितश्चरत्यरिविनाशनः॥ ४४॥

जहाँ शत्रुओंका विनाश करनेवाला दण्ड सुन्दर ढंगसे संचालित हो रहा है, वहाँ छल, पाप और ठगी भी नहीं देखनेमें आती है॥ ४४॥

हविःश्वा प्रलिहेद् दृष्ट्वा दण्डश्चेन्नोद्यतो भवेत्।
हरेत् काकः पुरोडाशं यदि दण्डो न पालयेत्॥ ४५॥

यदि दण्ड रक्षाके लिये सदा उद्यत न रहे तो कुत्ता हविष्यको देखते ही चाट जाय और यदि दण्ड रक्षा न करे तो कौआ पुरोडाशको उठा ले जाय॥ ४५॥

यदीदं धर्मतो राज्यं विहितं यद्यधर्मतः।
कार्यस्तत्र न शोको वै भुङ्क्ष्व भोगान् यजस्व च॥ ४६॥

यह राज्य धर्मसे प्राप्त हुआ हो या अधर्मसे, इसके लिये शोक नहीं करना चाहिये। आप भोग भोगिये और यज्ञ कीजिये॥ ४६॥

सुखेन धर्मं श्रीमन्तश्चरन्ति शुचिवाससः।
संवर्षन्तः फलैर्दानैर्भुञ्जानाश्चान्नमुत्तमम्॥ ४७॥

शुद्ध वस्त्र धारण करनेवाले धनवान् पुरुष सुखपूर्वक धर्मका आचरण करते हैं और उत्तम अन्न भोजन करते हुए फलों और दानोंकी वर्षा करते हैं॥ ४७॥

अर्थे सर्वे समारम्भाः समायत्ता न संशयः।
स च दण्डे समायत्तः पश्य दण्डस्य गौरवम्॥ ४८॥

इसमें संदेह नहीं कि सारे कार्य धनके अधीन हैं, परंतु धन दण्डके अधीन है। देखिये, दण्डकी कैसी महिमा है?॥ ४८॥

लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम्।
अहिंसासाधुहिंसेति श्रेयान् धर्मपरिग्रहः॥ ४९॥

लोकयात्राका निर्वाह करनेके लिये ही धर्मका प्रतिपादन किया गया है। सर्वथा हिंसा न की जाय अथवा दुष्टकी हिंसा की जाय, यह प्रश्न उपस्थित होनेपर जिसमें धर्मकी रक्षा हो, वही कार्य श्रेष्ठ मानना चाहिये*॥ ४९॥

नात्यन्तं गुणवत् किंचिन्न चाप्यत्यन्तनिर्गुणम्।
उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्वसाधु वा॥ ५०॥

कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें सर्वथा गुण-ही-गुण हो। ऐसी भी वस्तु नहीं है जो सर्वथा गुणोंसे वंचित ही हो। सभी कार्योंमें अच्छाई और बुराई दोनों ही देखनेमें आती हैं॥ ५०॥

पशूनां वृषणं छित्त्वा ततो भिन्दन्ति मस्तकम्।
वहन्ति बहवो भारान् बध्नन्ति दमयन्ति च॥ ५१॥

बहुत-से मनुष्य पशुओं (बैलों)-का अण्डकोश काटकर फिर उसके मस्तकपर उगे हुए दोनों सींगोंको भी विदीर्ण कर देते हैं, जिससे वे अधिक बढ़ने न पावें। फिर उनसे भार ढुलाते हैं, उन्हें घरमें बाँधे रखते हैं और नये बच्छेको गाड़ी आदिमें जोतकर उसका दमन करते हैं—उनकी उद्दण्डता दूर करके उनसे काम करनेका अभ्यास कराते हैं॥ ५१॥

एवं पर्याकुले लोके वितथैर्जर्जरीकृते।
तैस्तैर्न्यायैर्महाराज पुराणं धर्ममाचर॥ ५२॥

महाराज! इस प्रकार सारा जगत् मिथ्या व्यवहारोंसे आकुल और दण्डसे जर्जर हो गया है। आप भी उन्हीं-उन्हीं न्यायोंका अनुसरण करके प्राचीन धर्मका आचरण कीजिये॥ ५२॥

यज देहि प्रजां रक्ष धर्मं समनुपालय।
अमित्रान् जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय॥ ५३॥

यज्ञ कीजिये, दान दीजिये, प्रजाकी रक्षा कीजिये और धर्मका निरन्तर पालन करते रहिये। कुन्तीनन्दन! आप शत्रुओंका वध और मित्रोंका पालन कीजिये॥ ५३॥

---

* यदि गोशालामें बाघ आ जाय तो उसकी हिंसा ही उचित होगी, क्योंकि उसका वध न करनेसे कितनी ही गौओंकी हिंसा हो जायगी। अतः 'आर्त-रक्षा' रूप धर्मकी सिद्धिके लिये उस हिंसक प्राणीका वध ही वहाँ श्रेयस्कर होगा।

मा च ते निघ्नतः शत्रून् मन्युर्भवतु पार्थिव।
न तत्र किल्बिषं किंचित् कर्तुर्भवति भारत॥ ५४॥

राजन्! शत्रुओंका वध करते समय आपके मनमें दीनता नहीं आनी चाहिये। भारत! शत्रुओंका वध करनेसे कर्ताको कोई पाप नहीं लगता॥ ५४॥

आततायी हि यो हन्यादाततायिनमागतम्।
न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमार्छति॥ ५५॥

जो हाथमें हथियार लेकर मारने आया हो, उस आततायीको जो स्वयं भी आततायी बनकर मार डाले, उससे वह भ्रूण-हत्याका भागी नहीं होता; क्योंकि मारनेके लिये आये हुए उस मनुष्यका क्रोध ही उसका वध करनेवालेके मनमें भी क्रोध पैदा कर देता है॥ ५५॥

अवध्यः सर्वभूतानामन्तरात्मा न संशयः।
अवध्ये चात्मनि कथं वध्यो भवति कस्यचित्॥ ५६॥

समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा अवध्य है, इसमें संशय नहीं है। जब आत्माका वध हो ही नहीं सकता तब वह किसीका वध्य कैसे होगा?॥ ५६॥

यथा हि पुरुषः शालां पुनः सम्प्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते॥ ५७॥
देहान् पुराणानुत्सृज्य नवान् सम्प्रतिपद्यते।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः॥ ५८॥

जैसे मनुष्य बारंबार नये घरोंमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार जीव भिन्न-भिन्न शरीरोंको ग्रहण करता है। पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीरोंको अपना लेता है। इसीको तत्त्वदर्शी मनुष्य मृत्युका मुख बताते हैं॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १५॥

षोडशोऽध्यायः

भीमसेनका राजाको भुक्त दुःखोंकी स्मृति कराते हुए मोह छोड़कर मनको काबूमें करके राज्यशासन और यज्ञके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
धैर्यमास्थाय तेजस्वी ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनकी बात सुनकर अत्यन्त अमर्षशील तेजस्वी भीमसेनने धैर्य धारण करके अपने बड़े भाईसे कहा—॥ १॥

राजन् विदितधर्मोऽसि न तेऽस्त्यविदितं क्वचित्।
उपशिक्षाम ते वृत्तं सदैव न च शक्नुमः॥ २॥

'राजन्! आप सब धर्मोंके ज्ञाता हैं। आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है। हमलोग आपसे सदा ही सदाचारकी शिक्षा पाते हैं। हम आपको शिक्षा दे नहीं सकते॥ २॥

न वक्ष्यामि न वक्ष्यामीत्येवं मे मनसि स्थितम्।
अतिदुःखात्तु वक्ष्यामि तन्निबोध जनाधिप॥ ३॥

'जनेश्वर! मैंने कई बार मनमें निश्चय किया कि 'अब नहीं बोलूँगा, नहीं बोलूँगा;' परंतु अधिक दुःख होनेके कारण बोलना ही पड़ता है। आप मेरी बात सुनें॥

भवतः सम्प्रमोहेन सर्वं संशयितं कृतम्।
विक्लवत्वं च नः प्राप्तमबलत्वं तथैव च॥ ४॥

'आपके इस मोहसे सब कुछ संशयमें पड़ गया है। हमारे तन-मनमें व्याकुलता और निर्बलता प्राप्त हो गयी है।

कथं हि राजा लोकस्य सर्वशास्त्रविशारदः।
मोहमापद्यसे दैन्याद् यथा कापुरुषस्तथा॥ ५॥
अगतिश्च गतिश्चैव लोकस्य विदिता तव।
आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो॥ ६॥

'आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता और इस जगत्के राजा होकर क्यों कायर मनुष्यके समान दीनतावश मोहमें पड़े हुए हैं। आपको संसारकी गति और अगति दोनोंका ज्ञान है। प्रभो! आपसे न तो वर्तमान छिपा है और न भविष्य ही॥ ५-६॥

एवं गते महाराज राज्यं प्रति जनाधिप।
हेतुमत्र प्रवक्ष्यामि तमिहैकमनाः शृणु॥ ७॥

'महाराज! जनेश्वर! ऐसी स्थितिमें आपको राज्यके प्रति आकृष्ट करनेका जो कारण है, उसे ही यहाँ बता रहा हूँ। आप एकाग्रचित्त होकर सुनें॥ ७॥

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते॥ ८॥

'मनुष्यको दो प्रकारकी व्याधियाँ होती हैं—एक शारीरिक और दूसरी मानसिक। इन दोनोंकी उत्पत्ति एक-दूसरेके आश्रित है। एकके बिना दूसरीका होना सम्भव नहीं है॥ ८॥

शारीराज्जायते व्याधिर्मानसो नात्र संशयः।
मानसाज्जायते वापि शारीर इति निश्चयः॥ ९॥

'कभी शारीरिक व्याधिसे मानसिक व्याधि होती है, इसमें संशय नहीं है। इसी प्रकार कभी मानसिक व्याधिसे शारीरिक व्याधिका होना भी निश्चित ही है॥

शारीरं मानसं दुःखं योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ च विन्दति॥ १०॥

'जो मनुष्य बीते हुए मानसिक अथवा शारीरिक दुःखके लिये बारंबार शोक करता है, वह एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। उसे दो-दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं॥

शीतोष्णो चैव वायुश्च त्रयः शारीरजा गुणाः।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम्॥ ११॥

'सर्दी, गर्मी और वायु (कफ, पित्त और वात) ये तीन शारीरिक गुण हैं। इन गुणोंका साम्यावस्थामें रहना ही स्वस्थताका लक्षण बताया गया है॥ ११॥

तेषामन्यतमोद्रेके विधानमुपदिश्यते।
उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं प्रबाध्यते॥ १२॥

'उन तीनोंमेंसे यदि किसी एककी वृद्धि हो जाय तो उसकी चिकित्सा बतायी जाती है। उष्ण द्रव्यसे सर्दी और शीत पदार्थसे गर्मीका निवारण होता है॥ १२॥

सत्त्वं रजस्तम इति मानसाः स्युस्त्रयो गुणाः।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम्॥ १३॥

'सत्त्व, रज और तम—ये तीन मानसिक गुण हैं। इन तीनों गुणोंका सम अवस्थामें रहना मानसिक स्वास्थ्यका लक्षण बताया गया है॥ १३॥

तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते।
हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते॥ १४॥

'इनमेंसे किसी एककी वृद्धि होनेपर उपचार बताया जाता है। हर्ष (सत्त्व)-के द्वारा शोक (रजोगुण)-का निवारण होता है और शोकके द्वारा हर्षका॥ १४॥

कश्चित् सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति।
कश्चिद् दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति॥ १५॥

'कोई सुखमें रहकर दुःखकी बातें याद करना चाहता है और कोई दुःखमें रहकर सुखका स्मरण करना चाहता है॥ १५॥

स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी च सुखस्य वा।
न दुःखी सुखजातस्य न सुखी दुःखजस्य वा॥ १६॥
स्मर्तुमिच्छसि कौरव्य दिष्टं हि बलवत्तरम्।
अथवा ते स्वभावोऽयं येन पार्थिव क्लिश्यसे॥ १७॥

'कुरुनन्दन! परंतु आप न दुखी होकर दुःखकी, न सुखी होकर सुखकी, न दुःखकी अवस्थामें सुखकी और न सुखकी अवस्थामें दुःखकी ही बातें याद करना चाहते हैं; क्योंकि भाग्य बड़ा प्रबल होता है। अथवा महाराज! आपका स्वभाव ही ऐसा है जिससे आप क्लेश उठाकर रहते हैं॥ १६-१७॥

दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम्।
मिषतां पाण्डुपुत्राणां न तस्य स्मर्तुमर्हसि॥ १८॥

'कौरव-सभामें पाण्डुपुत्रोंके देखते-देखते जो एक वस्त्रधारिणी रजस्वला कृष्णाको लाया गया था, उसे आपने अपनी आँखों देखा था। क्या आपको उस घटनाका स्मरण नहीं होना चाहिये?॥ १८॥

प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम्।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमर्हसि॥ १९॥

'आप नगरसे निकाले गये, आपको मृगछाला पहनाकर वनवास दे दिया गया और बड़े-बड़े जंगलोंमें आपको रहना पड़ा। क्या इन सब बातोंको आप याद नहीं कर सकते?॥ १९॥

जटासुरात् परिक्लेशं चित्रसेनेन चाहवम्।
सैन्धवाच्च परिक्लेशं कथं विस्मृतवानसि॥ २०॥

'जटासुरसे जो कष्ट प्राप्त हुआ, चित्रसेनके साथ जो युद्ध करना पड़ा और सिंधुराज जयद्रथके कारण जो अपमानजनक दुःख भोगना पड़ा—ये सारी बातें आप कैसे भूल गये?॥ २०॥

पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधम्।
द्रौपद्या राजपुत्र्याश्च कथं विस्मृतवानसि॥ २१॥

'फिर अज्ञातवासके समय कीचकने जो आपके सामने ही राजकुमारी द्रौपदीको लात मारी थी, उस घटनाको आपने सहसा कैसे भुला दिया?॥ २१॥

(बलिनो हि वयं राजन् देवैरपि सुदुर्जयाः।
कथं भृत्यत्वमापन्ना विराटनगरे स्मर॥)

'राजन्! हम बलवान् हैं, देवताओंके लिये भी हमें परास्त करना कठिन होगा तो भी विराटनगरमें हमें कैसे दासता करनी पड़ी थी, इसे याद कीजिये॥

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम्॥ २२॥

'शत्रुदमन नरेश! द्रोणाचार्य और भीष्मके साथ जो आपका युद्ध हुआ था, वैसा ही दूसरा युद्ध आपके सामने उपस्थित है, इस समय आपको एकमात्र अपने मनके साथ युद्ध करना है॥ २२॥

यत्र नास्ति शरैः कार्यं न मित्रैर्न च बन्धुभिः।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम्॥ २३॥

'इस युद्धमें न तो बाणोंका काम है, न मित्रों और

बन्धुओंकी सहायताका। अकेले आपको ही लड़ना है। वह युद्ध आपके सामने उपस्थित है॥ २३॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे प्राणान् यदि विमोक्ष्यसे।
अन्यं देहं समास्थाय ततस्तैरपि योत्स्यसे॥ २४॥

'इस युद्धमें विजय पाये बिना यदि आप प्राणोंका परित्याग कर देंगे तो दूसरा देह धारण करके पुनः उन्हीं शत्रुओंके साथ आपको युद्ध करना पड़ेगा॥ २४॥

तस्मादद्यैव गन्तव्यं युद्ध्यस्व भरतर्षभ।
परमव्यक्तरूपस्य व्यक्तं त्यक्त्वा स्वकर्मभिः॥ २५॥

'भरतश्रेष्ठ! इसलिये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले साकार शत्रुको छोड़कर अव्यक्त (सूक्ष्म) शत्रु मनके साथ युद्ध करनेके लिये आपको अभी चल देना चाहिये। विचार आदि अपनी बौद्धिक क्रियाओंद्वारा उसके साथ आप अवश्य युद्ध करें॥ २५॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि।
एतज्जित्वा महाराज कृतकृत्यो भविष्यसि॥ २६॥
एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम्।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम्॥ २७॥

'महाराज! यदि युद्धमें आपने मनको परास्त नहीं किया तो पता नहीं आप किस अवस्थाको पहुँच जायँगे? और यदि मनको जीत लिया तो अवश्य कृतकृत्य हो जायँगे। प्राणियोंके आवागमनको देखते हुए इस विचारधाराको बुद्धिमें स्थिर करके आप पिता-पितामहोंके आचारमें प्रतिष्ठित हो यथोचित रूपसे राज्यका शासन कीजिये॥ २६-२७॥

दिष्ट्या दुर्योधनः पापो निहतः सानुगो युधि।
द्रौपद्याः केशपाशस्य दिष्ट्या त्वं पदवीं गतः॥ २८॥

'सौभाग्यकी बात है कि पापी दुर्योधन सेवकोंसहित युद्धमें मारा गया; और सौभाग्यसे ही आप दुःशासनके हाथसे मुक्त हुए द्रौपदीके केशपाशकी भाँति युद्धसे छुटकारा पा गये॥ २८॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
वयं ते किंकराः पार्थ वासुदेवश्च वीर्यवान्॥ २९॥

'कुन्तीनन्दन! आप विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान करें। हम सभी भाई और पराक्रमी श्रीकृष्ण आपके आज्ञापालक हैं॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमवाक्ये षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीमवाक्यविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा भीमकी बातका विरोध करते हुए मुनिवृत्तिकी और ज्ञानी महात्माओंकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

असंतोषः प्रमादश्च मदो रागोऽप्रशान्तता।
बलं मोहोऽभिमानश्चाप्युद्वेगश्चैव सर्वशः॥ १॥
एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकांक्षसे।
निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव॥ २॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन! असंतोष, प्रमाद, मद, राग, अशान्ति, बल, मोह, अभिमान तथा उद्वेग—ये सभी पाप तुम्हारे भीतर घुस गये हैं, इसीलिये तुम्हें राज्यकी इच्छा होती है। भाई! सकाम कर्म और बन्धनसे* रहित होकर सर्वथा मुक्त, शान्त एवं सुखी हो जाओ॥ १-२॥

य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः।
तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि॥ ३॥

जो सम्राट् इस सारी पृथ्वीका अकेला ही शासन करता है, उसके पास भी एक ही पेट होता है; अतः तुम किसलिये इस राज्यकी प्रशंसा करते हो?॥ ३॥

नाह्ना पूरयितुं शक्यां न मासैर्भरतर्षभ।
अपूर्यां पूरयन्निच्छामायुषापि न शक्नुयात्॥ ४॥

भरतश्रेष्ठ! इस इच्छाको एक दिनमें या कई महीनोंमें भी पूर्ण नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, सारी आयु प्रयत्न करनेपर भी इस अपूरणीय इच्छाकी पूर्ति होनी असम्भव है॥ ४॥

यथेद्धः प्रज्वलत्यग्निरसमिद्धः प्रशाम्यति।
अल्पाहारतया त्वग्निं शमयौदर्यमुत्थितम्॥ ५॥

जैसे आगमें जितना ही ईंधन डालो, वह प्रज्वलित होती जायगी और ईंधन न डाला जाय तो वह अपने-

* आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम्। ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत्परम्॥ (१७। १७)

आप बुझ जाती है। इसी प्रकार तुम भी अपना आहार कम करके इस जगी हुई जठराग्निको शान्त करो॥ ५॥

आत्मोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु।
जयोदरं पृथिव्या ते श्रेयो निर्जितया जितम्॥ ६॥

अज्ञानी मनुष्य अपने पेटके लिये ही बहुत हिंसा करता है; अतः तुम पहले अपने पेटको ही जीतो। फिर ऐसा समझा जायगा कि इस जीती हुई पृथ्वीके द्वारा तुमने कल्याणपर विजय पा ली है॥ ६॥

मानुषान् कामभोगांस्त्वमैश्वर्यं च प्रशंससि।
अभोगिनोऽबलाश्चैव यान्ति स्थानमनुत्तमम्॥ ७॥

भीमसेन! तुम मनुष्योंके कामभोग और ऐश्वर्यकी बड़ी प्रशंसा करते हो; परंतु जो भोगरहित हैं और तपस्या करते-करते निर्बल हो गये हैं, वे ऋषि-मुनि ही सर्वोत्तम पदको प्राप्त करते हैं॥ ७॥

योगः क्षेमश्च राष्ट्रस्य धर्माधर्मौ त्वयि स्थितौ।
मुच्यस्व महतो भारात् त्यागमेवाभिसंश्रय॥ ८॥

राष्ट्रके योग और क्षेम, धर्म तथा अधर्म सब तुममें ही स्थित हैं। तुम इस महान् भारसे मुक्त हो जाओ और त्यागका ही आश्रय लो॥ ८॥

एकोदरकृते व्याघ्रः करोति विघसं बहु।
तमन्येऽप्युपजीवन्ति मन्दा लोभवशा मृगाः॥ ९॥

बाघ एक ही पेटके लिये बहुत-से प्राणियोंकी हिंसा करता है, दूसरे लोभी और मूर्ख पशु भी उसीके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं॥ ९॥

विषयान् प्रतिसंगृह्य संन्यासं कुरुते यतिः।
न च तुष्यन्ति राजानः पश्य बुद्ध्यन्तरं यथा॥ १०॥

यत्नशील साधक विषयोंका परित्याग करके संन्यास ग्रहण कर लेता है तो वह संतुष्ट हो जाता है। परंतु विषयभोगोंसे सम्पन्न समृद्धिशाली राजा कभी संतुष्ट नहीं होते। देखो, इन दोनोंके विचारोंमें कितना अन्तर है?॥ १०॥

पत्राहारैरश्मकुट्टैर्दन्तोलूखलिकैस्तथा ।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च तैरयं नरको जितः॥ ११॥

जो लोग पत्ते खाकर रहते हैं,जो पत्थरपर पीसकर अथवा दाँतोंसे ही चबाकर भोजन करनेवाले हैं (अर्थात् जो चक्कीका पीसा और ओखलीका कूटा नहीं खाते हैं) तथा जो पानी या हवा पीकर रह जाते हैं, उन तपस्वी पुरुषोंने ही नरकपर विजय पायी है॥ ११॥

यस्त्विमां वसुधां कृत्स्नां प्रशासेदखिलां नृपः।
तुल्याश्मकांचनो यश्च स कृतार्थो न पार्थिवः॥ १२॥

जो राजा इस सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन करता है और जो सब कुछ छोड़कर पत्थर और सोनेको समान समझनेवाला है—इन दोनोंमेंसे वह त्यागी मुनि ही कृतार्थ होता है, राजा नहीं॥ १२॥

संकल्पेषु निरारम्भो निराशो निर्ममो भव।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाव्ययम्॥ १३॥

अपने मनोरथोंके पीछे बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ न करो। आशा तथा ममता न रखो और उस शोकरहित पदका आश्रय लो जो इहलोक और परलोकमें भी अविनाशी है॥ १३॥

निरामिषा न शोचन्ति शोचसि त्वं किमामिषम्।
परित्यज्यामिषं सर्वं मृषावादात् प्रमोक्ष्यसे॥ १४॥

जिन्होंने भोगोंका परित्याग कर दिया है वे तो कभी शोक नहीं करते हैं; फिर तुम क्यों भोगोंकी चिन्ता करते हो? सारे भोगोंका परित्याग कर देनेपर तुम मिथ्यावादसे छूट जाओगे॥ १४॥

पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ।
ईजानाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिणः॥ १५॥

देवयान और पितृयान—ये दो परलोकके प्रसिद्ध मार्ग हैं। जो सकाम यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले हैं वे पितृयानसे जाते हैं और मोक्षके अधिकारी देवयानमार्गसे॥

तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन महर्षयः।
विमुच्य देहांस्ते यान्ति मृत्योरविषयं गताः॥ १६॥

महर्षिगण तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा स्वाध्यायके बलसे देहत्यागके पश्चात् ऐसे लोकमें पहुँच जाते हैं जहाँ मृत्युका प्रवेश नहीं है॥ १६॥

आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम्।
ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत् परम्॥ १७॥

इस जगत्में ममता और आसक्तिके बन्धनको आमिष कहा गया है। सकाम कर्म भी आमिष कहलाता है। इन दोनों आमिषस्वरूप पापोंसे जो मुक्त हो गया है वही परमपदको प्राप्त होता है॥ १७॥

अपि गाथां पुरा गीतां जनकेन वदन्त्युत।
निर्द्वन्द्वेन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता॥ १८॥

इस विषयमें पूर्वकालमें राजा जनककी कही हुई एक गाथाका लोग उल्लेख किया करते हैं। राजा जनक समस्त द्वन्द्वोंसे रहित और जीवन्मुक्त पुरुष थे। उन्होंने मोक्षस्वरूप परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लिया था।

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किंचन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन॥ १९॥

(उनकी वह गाथा इस प्रकार है—) दूसरोंकी दृष्टिमें मेरे पास बहुत धन है; परंतु उसमेंसे कुछ भी

मेरा नहीं है। सारी मिथिलामें आग लग जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलेगा॥ १९॥

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोचन् शोचतो जनान्।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थो मन्दबुद्धीनवेक्षते॥ २०॥

जैसे पर्वतकी चोटीपर चढ़ा हुआ मनुष्य धरतीपर खड़े हुए प्राणियोंको केवल देखता है उनकी परिस्थितिसे प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार बुद्धिकी अट्टालिकापर चढ़ा हुआ मनुष्य उन शोक करनेवाले मन्दबुद्धि लोगोंको देखता है, किंतु स्वयं उनकी भाँति दुखी नहीं होता॥ २०॥

दृश्यं पश्यति यः पश्यन् स चक्षुष्मान् स बुद्धिमान्।
अज्ञातानां च विज्ञानात् सम्बोधाद् बुद्धिरुच्यते॥ २१॥

जो स्वयं द्रष्टारूपसे पृथक् रहकर इस दृश्य-प्रपंचको देखता है, वही आँखवाला है और वही बुद्धिमान् है। अज्ञात तत्त्वोंका ज्ञान एवं सम्यग् बोध करानेके कारण अन्तःकरणकी एक वृत्तिको बुद्धि कहते हैं॥ २१॥

यस्तु वाचं विजानाति बहुमानमियात् स वै।
ब्रह्मभावप्रपन्नानां वैद्यानां भावितात्मनाम्॥ २२॥

जो ब्रह्मभावको प्राप्त हुए शुद्धात्मा विद्वानोंका-सा बोलना जान लेता है, उसे अपने ज्ञानपर बड़ा अभिमान हो जाता है(जैसे कि तुम हो)॥ २२॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ २३॥

जब पुरुष प्राणियोंकी पृथक्-पृथक् सत्ताको एकमात्र परमात्मामें ही स्थित देखता है और उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार हुआ मानता है, उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है॥ २३॥

ते जनास्तां गतिं यान्ति नाविद्वांसोऽल्पचेतसः।
नाबुद्धयो नातपसः सर्वं बुद्धौ प्रतिष्ठितम्॥ २४॥

बुद्धिमान् और तपस्वी ही उस गतिको प्राप्त होते हैं। जो अज्ञानी, मन्दबुद्धि, शुद्धबुद्धिसे रहित और तपस्यासे शून्य हैं—वे नहीं। क्योंकि सब कुछ बुद्धिमें ही प्रतिष्ठित है॥ २४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७॥

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुनका राजा जनक और उनकी रानीका दृष्टान्त देते हुए युधिष्ठिरको संन्यास ग्रहण करनेसे रोकना

वैशम्पायन उवाच

तूष्णीम्भूतं तु राजानं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्।
संतप्तः शोकदुःखाभ्यां राजवाक्छल्यपीडितः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब राजा युधिष्ठिर ऐसा कहकर चुप हो गये, तब राजाके वाग्बाणोंसे पीड़ित हो शोक और दुःखसे संतप्त हुए अर्जुन फिर उनसे बोले॥ १॥

अर्जुन उवाच

कथयन्ति पुरावृत्तमितिहासमिमं जनाः।
विदेहराज्ञः संवादं भार्यया सह भारत॥ २॥

अर्जुनने कहा—भारत! विज्ञ पुरुष विदेहराज जनक और उनकी रानीका संवादरूप यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं॥ २॥

उत्सृज्य राज्यं भिक्षार्थं कृतबुद्धिं नरेश्वरम्।
विदेहराजमहिषी दुःखिता यदभाषत॥ ३॥

एक समय राजा जनकने भी राज्य छोड़कर भिक्षासे जीवन-निर्वाह कर लेनेका निश्चय कर लिया था। उस समय विदेहराजकी महारानीने दुखी होकर जो कुछ कहा था, वही आपको सुना रहा हूँ॥ ३॥

धनान्यपत्यं दाराश्च रत्नानि विविधानि च।
पन्थानं पावकं हित्वा जनको मौढ्यमास्थितः॥ ४॥
तं ददर्श प्रिया भार्या भैक्ष्यवृत्तिमकिंचनम्।
धानामुष्टिमुपासीनं निरीहं गतमत्सरम्॥ ५॥
तमुवाच समागत्य भर्तारमकुतोभयम्।
क्रुद्धा मनस्विनी भार्या विविक्ते हेतुमद् वचः॥ ६॥

कहते हैं, एक दिन राजा जनकपर मूढ़ता छा गयी और वे धन, संतान, स्त्री, नाना प्रकारके रत्न, सनातन मार्ग और अग्निहोत्रका भी त्याग करके अकिंचन हो गये। उन्होंने भिक्षुवृत्ति अपना ली और वे मुट्ठीभर भुना हुआ जौ खाकर रहने लगे। उन्होंने सब प्रकारकी चेष्टाएँ

छोड़ दीं। उनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्याका भाव नहीं रह गया था। इस प्रकार निर्भय स्थितिमें पहुँचे हुए अपने स्वामीको उनकी भार्याने देखा और उनके पास आकर कुपित हुई उस मनस्विनी एवं प्रिय रानीने एकान्तमें यह युक्तियुक्त बात कही— ॥ ४—६ ॥

कथमुत्सृज्य राज्यं स्वं धनधान्यसमन्वितम्।
कापालीं वृत्तिमास्थाय धानामुष्टिर्न ते वरः॥ ७॥

'राजन्! आपने धन-धान्यसे सम्पन्न अपना राज्य छोड़कर यह खपड़ा लेकर भीख माँगनेका धंधा कैसे अपना लिया? यह मुट्ठीभर जौ आपको शोभा नहीं दे रहा है॥ ७॥

प्रतिज्ञा तेऽन्यथा राजन् विचेष्टा चान्यथा तव।
यद् राज्यं महदुत्सृज्य स्वल्पे तुष्यसि पार्थिव॥ ८॥

'नरेश्वर! आपकी प्रतिज्ञा तो कुछ और थी और चेष्टा कुछ और ही दिखायी देती है। भूपाल! आपने विशाल राज्य छोड़कर थोड़ी-सी वस्तुमें संतोष कर लिया॥ ८॥

नैतेनातिथयो राजन् देवर्षिपितरस्तथा।
अद्य शक्यास्त्वया भर्तुं मोघस्तेऽयं परिश्रमः॥ ९॥

'राजन्! इस मुट्ठीभर जौसे देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा अतिथियोंका आप भरण-पोषण नहीं कर सकते, अतः आपका यह परिश्रम व्यर्थ है॥ ९॥

देवतातिथिभिश्चैव पितृभिश्चैव पार्थिव।
सर्वैरेतैः परित्यक्तः परिव्रजसि निष्क्रियः॥ १०॥

'पृथ्वीनाथ! आप सम्पूर्ण देवताओं, अतिथियों और पितरोंसे परित्यक्त होकर अकर्मण्य हो घर छोड़ रहे हैं॥

यस्त्वं त्रैविद्यवृद्धानां ब्राह्मणानां सहस्रशः।
भर्ता भूत्वा च लोकस्य सोऽद्य तैर्भृतिमिच्छसि॥ ११॥

'तीनों वेदोंके ज्ञानमें बढ़े-चढ़े सहस्रों ब्राह्मणों तथा इस सम्पूर्ण जगत्का भरण-पोषण करनेवाले होकर भी आज आप उन्हींके द्वारा अपना भरण-पोषण चाहते हैं॥

श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत् सम्प्रति वीक्ष्यसे।
अपुत्रा जननी तेऽद्य कौसल्या चापतिस्त्वया॥ १२॥

'इस जगमगाती हुई राजलक्ष्मीको छोड़कर इस समय आप दर-दर भटकनेवाले कुत्तेके समान दिखायी देते हैं। आज आपके जीते-जी आपकी माता पुत्रहीन और यह अभागिनी कौसल्या पतिहीन हो गयी॥ १२॥

अमी च धर्मकामास्त्वां क्षत्रियाः पर्युपासते।
त्वदाशामभिकांक्षन्तः कृपणाः फलहेतुकाः॥ १३॥

'ये धर्मकी इच्छा रखनेवाले क्षत्रिय जो सदा आपकी सेवामें बैठे रहते हैं, आपसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते हैं, इन बेचारोंको सेवाका फल चाहिये॥ १३॥

तांश्च त्वं विफलान् कुर्वन् कं नु लोकं गमिष्यसि।
राजन् संशयिते मोक्षे परतन्त्रेषु देहिषु॥ १४॥

'राजन्! मोक्षकी प्राप्ति संशयास्पद है और प्राणी प्रारब्धके अधीन हैं। ऐसी दशामें उन अर्थार्थी सेवकोंको यदि आप विफल-मनोरथ करते हैं तो पता नहीं किस लोकमें जायँगे?॥ १४॥

नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः।
धर्म्यान् दारान् परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम्॥ १५॥

'आप अपनी धर्मपत्नीका परित्याग करके जो अकेला जीवन बिताना चाहते हैं, इससे आप पापकर्मा बन गये हैं; अतः आपके लिये न यह लोक सुखद होगा, न परलोक॥ १५॥

स्रजो गन्धानलंकारान् वासांसि विविधानि च।
किमर्थमभिसंत्यज्य परिव्रजसि निष्क्रियः॥ १६॥

'बताइये तो सही, इन सुन्दर-सुन्दर मालाओं, सुगन्धित पदार्थों, आभूषणों और भाँति-भाँतिके वस्त्रोंको छोड़कर किसलिये कर्महीन होकर घरका परित्याग कर रहे हैं?॥ १६॥

निपानं सर्वभूतानां भूत्वा त्वं पावनं महत्।
आढ्यो वनस्पतिर्भूत्वा सोऽन्यांस्त्वं पर्युपाससे॥ १७॥

'आप सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये पवित्र एवं विशाल प्याऊके समान थे—सभी आपके पास अपनी प्यास बुझाने आते थे। आप फलोंसे भरे हुए वृक्षके समान थे—कितने ही प्राणियोंकी भूख मिटाते थे, परंतु वे ही आप अब (भूख-प्यास मिटानेके लिये) दूसरोंका मुँह जोह रहे हैं॥

खादन्ति हस्तिनं न्यासैः क्रव्यादा बहवोऽप्युत।
बहवः कृमयश्चैव किं पुनस्त्वामनर्थकम्॥ १८॥

'यदि हाथी भी सारी चेष्टा छोड़कर एक जगह पड़ जाय तो मांसभक्षी जीव-जन्तु और कीड़े धीरे-धीरे उसे खा जाते हैं। फिर सब पुरुषार्थोंसे शून्य आप-जैसे मनुष्योंकी तो बात ही क्या है?॥ १८॥

य इमां कुण्डिकां भिन्द्यात् त्रिविष्टब्धं च यो हरेत्।
वासश्चापि हरेत् तस्मिन् कथं ते मानसं भवेत्॥ १९॥

'यदि आपकी कोई यह कुण्डी फोड़ दे, त्रिदण्ड उठा ले जाय और ये वस्त्र भी चुरा ले जाय तो उस समय आपके मनकी कैसी अवस्था होगी?॥ १९॥

यस्त्वयं सर्वमुत्सृज्य धानामुष्टेरनुग्रहः।
यदानेन समं सर्वं किमिदं ह्यवसीयसे॥ २०॥

'यदि सब कुछ छोड़कर भी आप मुट्ठीभर जौके लिये दूसरोंकी कृपा चाहते हैं तो राज्य आदि अन्य सब

वस्तुएँ भी तो इसीके समान हैं। फिर उस राज्यके त्यागकी क्या विशेषता रही?॥ २०॥

धानामुष्टेरिहार्थश्चेत् प्रतिज्ञा ते विनश्यति।
का वाहं तव को मे त्वं कश्च ते मय्यनुग्रहः॥ २१॥

'यदि यहाँ मुट्ठीभर जौकी आवश्यकता बनी ही रह गयी तो सब कुछ त्याग देनेकी जो आपने प्रतिज्ञा की थी, वह नष्ट हो गयी। (सर्वत्यागी हो जानेपर) मैं आपकी कौन हूँ और आप मेरे कौन हैं तथा आपका मुझपर अनुग्रह भी क्या है?॥ २१॥

प्रशाधि पृथिवीं राजन् यदि तेऽनुग्रहो भवेत्।
प्रासादं शयनं यानं वासांस्याभरणानि च॥ २२॥

'राजन्! यदि आपका मुझपर अनुग्रह हो तो इस पृथ्वीका शासन कीजिये और राजमहल, शय्या, सवारी, वस्त्र तथा आभूषणोंको भी उपयोगमें लाइये॥ २२॥

श्रिया विहीनैरधनैस्त्यक्तमित्रैरकिंचनैः।
सौखिकैः सम्भृतानर्थान् यः संत्यजति किं नु तत्॥ २३॥

'श्रीहीन, निर्धन, मित्रोंद्वारा त्यागे हुए, अकिंचन एवं सुखकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंकी भाँति सब प्रकारसे परिपूर्ण राजलक्ष्मीका जो परित्याग करता है उससे उसे क्या लाभ?॥ २३॥

योऽत्यन्तं प्रतिगृह्णीयाद् यश्च दद्यात् सदैव हि।
तयोस्त्वमन्तरं विद्धि श्रेयांस्ताभ्यां क उच्यते॥ २४॥

'जो बराबर दूसरोंसे दान लेता (भिक्षा ग्रहण करता) तथा जो निरन्तर स्वयं ही दान करता रहता है, उन दोनोंमें क्या अन्तर है और उनमेंसे किसको श्रेष्ठ कहा जाता है? यह आप समझिये॥ २४॥

सदैव याचमानेषु तथा दम्भान्वितेषु च।
एतेषु दक्षिणा दत्ता दावाग्नाविव दुर्हुतम्॥ २५॥

'सदा ही याचना करनेवालेको और दम्भीको दी हुई दक्षिणा दावानलमें दी गयी आहुतिके समान व्यर्थ है॥

जातवेदा यथा राजन् नादग्ध्वैवोपशाम्यति।
सदैव याचमानो हि तथा शाम्यति न द्विजः॥ २६॥

'राजन्! जैसे आग लकड़ीको जलाये बिना नहीं बुझती, उसी प्रकार सदा ही याचना करनेवाला ब्राह्मण (याचनाका अन्त किये बिना) कभी शान्त नहीं हो सकता॥ २६॥

सतां वै ददतोऽन्नं च लोकेऽस्मिन् प्रकृतिर्ध्रुवा।
न चेद् राजा भवेद् दाता कुतः स्युर्मोक्षकांक्षिणः॥ २७॥

'इस संसारमें दाताका अन्न ही साधु पुरुषोंकी जीविकाका निश्चित आधार है। यदि दान करनेवाला राजा न हो तो मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले साधु-संन्यासी कैसे जी सकते हैं?॥ २७॥

अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च।
अन्नात् प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत्॥ २८॥

'इस जगत्में अन्नसे गृहस्थ और गृहस्थोंसे भिक्षुओंका निर्वाह होता है। अन्नसे प्राणशक्ति प्रकट होती है;अतः अन्नदाता प्राणदाता होता है॥ २८॥

गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विन्दन्त आसते॥ २९॥

'जितेन्द्रिय संन्यासी गृहस्थ-आश्रमसे अलग होकर भी गृहस्थोंके ही सहारे जीवन धारण करते हैं। वहींसे वह प्रकट होते हैं और वहीं उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है॥

त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौढ्यान्न च याचनात्।
ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति न सुखं विद्धि भिक्षुकम्॥ ३०॥

'केवल त्यागसे, मूढ़तासे और याचना करनेसे किसीको भिक्षु नहीं समझना चाहिये। जो सरलभावसे स्वार्थका त्याग करता है और सुखमें आसक्त नहीं होता उसे ही भिक्षु समझिये॥ ३०॥

असक्तः सक्तवद् गच्छन् निःसंगो मुक्तबन्धनः।
समः शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते॥ ३१॥

'पृथ्वीनाथ! जो आसक्तिरहित होकर आसक्तकी भाँति विचरता है, जो संगरहित एवं सब प्रकारके बन्धनोंको तोड़ चुका है तथा शत्रु और मित्रमें जिसका समान भाव है, वह सदा मुक्त ही है॥ ३१॥

परिव्रजन्ति दानार्थं मुण्डाः काषायवाससः।
सिता बहुविधैः पाशैः संचिन्वन्तो वृथामिषम्॥ ३२॥

'बहुत-से मनुष्य दान लेने (पेट पालने)-के लिये मूड़ मुड़ाकर गेरुए वस्त्र पहन लेते हैं और घरसे निकल जाते हैं। वे नाना प्रकारके बन्धनोंमें बँधे होनेके कारण व्यर्थ भोगोंकी ही खोज करते रहते हैं*॥ ३२॥

त्रयीं च नाम वार्तां च त्यक्त्वा पुत्रान् व्रजन्ति ये।
त्रिविष्टब्धं च वासश्च प्रतिगृह्णन्त्यबुद्धयः॥ ३३॥

'बहुत-से मूर्ख मनुष्य तीनों वेदोंके अध्ययन, इनमें बताये गये कर्म, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य तथा अपने पुत्रोंका परित्याग करके चल देते हैं और त्रिदण्ड एवं भगवा वस्त्र धारण कर लेते हैं॥ ३३॥

अनिष्कषाये काषायमीहार्थमिति विद्धि तम्।
धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मतिः॥ ३४॥

---

* इसी पर्वमें अध्याय १७ श्लोक १७ देखना चाहिये।

'यदि हृदयका कषाय (राग आदि दोष) दूर न हुआ हो तो काषाय (गेरुआ) वस्त्र धारण करना स्वार्थ-साधनकी चेष्टाके लिये ही समझना चाहिये। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि धर्मका ढोंग रखनेवाले मथमुंडोंके लिये यह जीविका चलानेका एक धंधामात्र है॥ ३४॥

काषायैरजिनैश्चीरैर्नग्नान् मुण्डान् जटाधरान्।
बिभ्रत् साधून् महाराज जय लोकान् जितेन्द्रियः॥ ३५॥

'महाराज! आप तो जितेन्द्रिय होकर नंगे रहनेवाले, मूड़ मुड़ाने और जटा रखानेवाले साधुओंका गेरुआ वस्त्र, मृगचर्म एवं वल्कल वस्त्रोंके द्वारा भरण-पोषण करते हुए पुण्यलोकोंपर विजय प्राप्त कीजिये॥ ३५॥

अग्न्याधेयानि गुर्वर्थं क्रतूनपि सुदक्षिणान्।
ददात्यहरहः पूर्वं को नु धर्मरतस्ततः॥ ३६॥

'जो प्रतिदिन पहले गुरुके लिये अग्निहोत्रार्थ समिधा लाता है; फिर उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ एवं दान करता रहता है, उससे बढ़कर धर्मपरायण कौन होगा?'॥ ३६॥

अर्जुन उवाच

तत्त्वज्ञो जनको राजा लोकेऽस्मिन्निति गीयते।
सोऽप्यासीन्मोहसम्पन्नो मा मोहवशमन्वगाः॥ ३७॥

अर्जुन कहते हैं—महाराज! राजा जनकको इस जगत्में 'तत्त्वज्ञ' कहा जाता है; किंतु वे भी मोहमें पड़ गये थे। (रानीके इस तरह समझानेपर राजाने संन्यासका विचार छोड़ दिया। अतः) आप भी मोहके वशीभूत न होइये॥ ३७॥

एवं धर्ममनुक्रान्ताः सदा दानतपःपराः।
आनृशंस्यगुणोपेताः कामक्रोधविवर्जिताः॥ ३८॥
प्रजानां पालने युक्ता दानमुत्तममास्थिताः।
इष्टाँल्लोकानवाप्स्यामो गुरुवृद्धोपचायिनः॥ ३९॥

यदि हमलोग सदा दान और तपस्यामें तत्पर हो इसी प्रकार धर्मका अनुसरण करेंगे, दया आदि गुणोंसे सम्पन्न रहेंगे, काम-क्रोध आदि दोषोंको त्याग देंगे, उत्तम दान-धर्मका आश्रय ले प्रजापालनमें लगे रहेंगे तथा गुरुजनों और वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करते रहेंगे तो हम अपने अभीष्ट लोक प्राप्त कर लेंगे॥ ३८-३९॥

देवतातिथिभूतानां निर्वपन्तो यथाविधि।
स्थानमिष्टमवाप्स्यामो ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः॥ ४०॥

इसी प्रकार देवता, अतिथि और समस्त प्राणियोंको विधिपूर्वक उनका भाग अर्पण करते हुए यदि हम ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी बने रहेंगे तो हमें अभीष्ट स्थानकी प्राप्ति अवश्य होगी॥ ४०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनका वाक्यविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा अपने मतकी यथार्थताका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

वेदाहं तात शास्त्राणि अपराणि पराणि च।
उभयं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—तात! मैं धर्म और ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले अपर तथा पर दोनों प्रकारके शास्त्रोंको जानता हूँ। वेदमें दोनों प्रकारके वचन उपलब्ध होते हैं—'कर्म करो और कर्म छोड़ो'—इन दोनोंका ही मुझे ज्ञान है॥ १॥

आकुलानि च शास्त्राणि हेतुभिश्चिन्तितानि च।
निश्चयश्चैव यो मन्त्रे वेदाहं तं यथाविधि॥ २॥

परस्परविरोधी भावोंसे युक्त जो शास्त्र-वाक्य हैं, उनपर भी मैंने युक्तिपूर्वक विचार किया है। वेदमें उन दोनों प्रकारके वाक्योंका जो सुनिश्चित सिद्धान्त है, उसे भी मैं विधिपूर्वक जानता हूँ॥ २॥

त्वं तु केवलमस्त्रज्ञो वीरव्रतसमन्वितः।
शास्त्रार्थं तत्त्वतो गन्तुं न समर्थः कथंचन॥ ३॥

तुम तो केवल अस्त्रविद्याके पण्डित हो और वीरव्रतका पालन करनेवाले हो। शास्त्रोंके तात्पर्यको यथार्थरूपसे जाननेकी शक्ति तुममें किसी प्रकार नहीं है॥

शास्त्रार्थसूक्ष्मदर्शी यो धर्मनिश्चयकोविदः।
तेनाप्येवं न वाच्योऽहं यदि धर्मं प्रपश्यसि॥ ४॥

जो लोग शास्त्रोंके सूक्ष्म रहस्यको समझनेवाले हैं और धर्मका निर्णय करनेमें कुशल हैं, वे भी मुझे इस प्रकार उपदेश नहीं दे सकते। यदि तुम धर्मपर दृष्टि रखते हो तो मेरे इस कथनकी यथार्थताका अनुभव करोगे॥ ४॥

भ्रातृसौहृदमास्थाय यदुक्तं वचनं त्वया।
न्याय्यं युक्तं च कौन्तेय प्रीतोऽहं तेन तेऽर्जुन॥ ५॥

अर्जुन! कुन्तीनन्दन! तुमने भ्रातृस्नेहवश जो बात कही है, वह न्यायसंगत और उचित है। मैं उससे तुमपर प्रसन्न ही हुआ हूँ॥ ५॥

युद्धधर्मेषु सर्वेषु क्रियाणां नैपुणेषु च।
न त्वया सदृशः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ ६॥

सम्पूर्ण युद्धधर्मोंमें और संग्राम करनेकी कुशलतामें तुम्हारी समानता करनेवाला तीनों लोकोंमें कोई नहीं है॥

धर्मं सूक्ष्मतरं वाच्यं तत्र दुष्प्रतरं त्वया।
धनञ्जय न मे बुद्धिमभिशङ्कितुमर्हसि॥ ७॥

धनंजय! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म एवं दुर्बोध कहा गया है। उसमें तुम्हारा प्रवेश होना अत्यन्त कठिन है। मेरी बुद्धि भी उसे समझती है या नहीं, यह आशंका तुम्हें नहीं करनी चाहिये॥ ७॥

युद्धशास्त्रविदेव त्वं न वृद्धाः सेवितास्त्वया।
संक्षिप्तविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम्॥ ८॥

तुम युद्धशास्त्रके ही विद्वान् हो, तुमने कभी वृद्ध पुरुषोंका सेवन नहीं किया है, अतः संक्षेप और विस्तारके साथ धर्मको जाननेवाले उन महापुरुषोंका क्या सिद्धान्त है, इसका तुम्हें पता नहीं है॥ ८॥

तपस्त्यागोऽविधिरिति निश्चयस्त्वेष धीमताम्।
परं परं ज्याय एषां येषां नैश्रेयसी मतिः॥ ९॥

जिन महानुभावोंकी बुद्धि परम कल्याणमें लगी हुई है, उन बुद्धिमानोंका निर्णय इस प्रकार है। तपस्या, त्याग और विधिविधानसे अतीत (ब्रह्मज्ञान) इनमेंसे पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है॥ ९॥

यस्त्वेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति।
तत्र ते वर्तयिष्यामि यथा नैतत् प्रधानतः॥ १०॥

कुन्तीनन्दन! तुम जो यह मानते हो कि धनसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसके विषयमें मैं तुम्हें ऐसी बात बता रहा हूँ, जिससे तुम्हारी समझमें आ जायगा कि धन प्रधान नहीं है॥ १०॥

तपःस्वाध्यायशीला हि दृश्यन्ते धार्मिका जनाः।
ऋषयस्तपसा युक्ता येषां लोकाः सनातनाः॥ ११॥

इस जगत्में बहुत-से तपस्या और स्वाध्यायमें लगे हुए धर्मात्मा पुरुष देखे जाते हैं तथा ऋषि तो तपस्वी होते ही हैं। इन सबको सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है॥

अजातशत्रवो धीरास्तथान्ये वनवासिनः।
अरण्ये बहवश्चैव स्वाध्यायेन दिवं गताः॥ १२॥

कितने ही ऐसे धीर पुरुष हैं, जिनके शत्रु पैदा ही नहीं हुए। ये तथा और भी बहुत-से वनवासी हैं, जो वनमें स्वाध्याय करके स्वर्गलोकमें चले गये हैं॥ १२॥

उत्तरेण तु पन्थानमार्या विषयनिग्रहात्।
अबुद्धिजं तमस्त्यक्त्वा लोकांस्त्यागवतां गताः॥ १३॥

बहुत-से आर्य पुरुष इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोककर अविवेकजनित अज्ञानका त्याग करके उत्तरमार्ग (देवयान)-के द्वारा त्यागी पुरुषोंके लोकोंमें चले गये॥

दक्षिणेन तु पंथानं यं भास्वन्तं प्रचक्षते।
एते क्रियावतां लोका ये श्मशानानि भेजिरे॥ १४॥

इसके सिवा जो दक्षिण मार्ग है, जिसे प्रकाशपूर्ण बताया गया है, वहाँ जो लोक हैं, वे सकाम कर्म करनेवाले उन गृहस्थोंके लिये हैं, जो श्मशान-भूमिका सेवन करते हैं (जन्म-मरणके चक्करमें पड़े रहते हैं)॥

अनिर्देश्या गतिः सा तु यां प्रपश्यन्ति मोक्षिणः।
तस्माद् योगः प्रधानेष्टः स तु दुःखं प्रवेदितुम्॥ १५॥

परंतु मोक्ष-मार्गसे चलनेवाले पुरुष जिस गतिका साक्षात्कार करते हैं, वह अनिर्देश्य है; अतः ज्ञानयोग ही सब साधनोंमें प्रधान एवं अभीष्ट है, किंतु उसके स्वरूपको समझना बहुत कठिन है॥ १५॥

अनुस्मृत्य तु शास्त्राणि कवयः समवस्थिताः।
अपीह स्यादपीह स्यात् सारासारदिदृक्षया॥ १६॥

कहते हैं, किसी समय विद्वान् पुरुषोंने सार और असार वस्तुका निर्णय करनेकी इच्छासे इकट्ठे होकर समस्त शास्त्रोंका बार-बार स्मरण करते हुए यह विचार आरम्भ किया कि क्या इस गार्हस्थ्य-जीवनमें कुछ सार है या इसके त्यागमें सार है?॥ १६॥

वेदवादानतिक्रम्य शास्त्राण्यारण्यकानि च।
विपाट्य कदलीस्तम्भं सारं ददृशिरे न ते॥ १७॥

उन्होंने वेदोंके सम्पूर्ण वाक्यों तथा शास्त्रों और बृहदारण्यक आदि वेदान्तग्रन्थोंको भी पढ़ लिया, परंतु जैसे केलेके खम्भेको फाड़नेसे कुछ सार नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार उन्हें इस जगत्में सार वस्तु नहीं दिखायी दी॥ १७॥

अथैकान्तव्युदासेन शरीरे पाञ्चभौतिके।
इच्छाद्वेषसमासक्तमात्मानं प्राहुरिङ्गितैः॥ १८॥

कुछ लोग एकान्तभावका परित्याग करके इस पांचभौतिक शरीरमें विभिन्न संकेतोंद्वारा इच्छा, द्वेष आदिमें आसक्त आत्माकी स्थिति बताते हैं॥ १८॥

अग्राह्यं चक्षुषा सूक्ष्ममनिर्देश्यं च तद्गिरा।
कर्महेतुपुरस्कारं भूतेषु परिवर्तते॥ १९॥

परंतु आत्माका स्वरूप तो अत्यन्त सूक्ष्म है। उसे

नेत्रोंद्वारा देखा नहीं जा सकता, वाणीद्वारा उसका कोई लक्षण नहीं बताया जा सकता। वह समस्त प्राणियोंमें कर्मकी हेतुभूत अविद्याको आगे रखकर—उसीके द्वारा अपने स्वरूपको छिपाकर विद्यमान है॥ १९॥

कल्याणगोचरं कृत्वा मनस्तृष्णां निगृह्य च।
कर्मसंततिमुत्सृज्य स्यान्निरालम्बनः सुखी॥ २०॥

अतः (मनुष्यको चाहिये कि) मनको कल्याणके मार्गमें लगाकर तृष्णाको रोके और कर्मोंकी परम्पराका परित्याग करके धन-जन आदिके अवलम्बसे दूर हो सुखी हो जाय॥ २०॥

अस्मिन्नेवं सूक्ष्मगम्ये मार्गे सद्भिर्निषेविते।
कथमर्थमनर्थाढ्यमर्जुन त्वं प्रशंससि॥ २१॥

अर्जुन! इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धिसे जाननेयोग्य एवं साधु पुरुषोंसे सेवित इस उत्तम मार्गके रहते हुए तुम अनर्थोंसे भरे हुए अर्थ (धन) की प्रशंसा कैसे करते हो?॥ २१॥

पूर्वशास्त्रविदोऽप्येवं जनाः पश्यन्ति भारत।
क्रियासु निरता नित्यं दाने यज्ञे च कर्मणि॥ २२॥

भरतनन्दन! दान, यज्ञ तथा अतिथिसेवा आदि अन्य कर्मोंमें नित्य लगे रहनेवाले प्राचीन शास्त्रज्ञ भी इस विषयमें ऐसी ही दृष्टि रखते हैं॥ २२॥

भवन्ति सुदुरावर्ता हेतुमन्तोऽपि पण्डिताः।
दृढपूर्वे स्मृता मूढा नैतदस्तीतिवादिनः॥ २३॥

कुछ तर्कवादी पण्डित भी अपने पूर्वजन्मके दृढ़ संस्कारोंसे प्रभावित होकर ऐसे मूढ़ हो जाते हैं कि उन्हें शास्त्रके सिद्धान्तको ग्रहण कराना अत्यन्त कठिन हो जाता है। वे आग्रहपूर्वक यही कहते रहते हैं कि 'यह (आत्मा, धर्म, परलोक, मर्यादा आदि) कुछ नहीं है'॥

अनृतस्यावमन्तारो वक्तारो जनसंसदि।
चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वावदूका बहुश्रुताः॥ २४॥

किंतु बहुत-से ऐसे बहुश्रुत, बोलनेमें चतुर और विद्वान् भी हैं, जो जनताकी सभामें व्याख्यान देते और उपर्युक्त असत्य मतका खण्डन करते हुए सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं॥ २४॥

पार्थ यान्न विजानीमः कस्तान् ज्ञातुमिहार्हति।
एवं प्राज्ञाः श्रुताश्चापि महान्तः शास्त्रवित्तमाः॥ २५॥

पार्थ! जिन विद्वानोंको हम नहीं जान पाते हैं, उन्हें कोई साधारण मनुष्य कैसे जान सकता है? इस प्रकार शास्त्रोंके अच्छे-अच्छे ज्ञाता एवं महान् विद्वान् सुननेमें आये हैं (जिनको पहचानना बड़ा कठिन है)॥ २५॥

तपसा महदाप्नोति बुद्ध्या वै विन्दते महत्।
त्यागेन सुखमाप्नोति सदा कौन्तेय तत्त्ववित्॥ २६॥

कुन्तीनन्दन! तत्त्ववेत्ता पुरुष तपस्याद्वारा महान् पदको प्राप्त कर लेता है, ज्ञानयोगसे उस परमतत्त्वको उपलब्ध कर लेता है और स्वार्थत्यागके द्वारा सदा नित्य सुखका अनुभव करता रहता है॥ २६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १९॥

विंशोऽध्यायः

मुनिवर देवस्थानका राजा युधिष्ठिरको यज्ञानुष्ठानके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन् वाक्यान्तरे वक्ता देवस्थानो महातपाः।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरकी यह बात समाप्त होनेपर प्रवचनकुशल महातपस्वी देवस्थानने युक्तियुक्त वाणीमें राजा युधिष्ठिरसे कहा॥

देवस्थान उवाच

यद् वचः फाल्गुनेनोक्तं न ज्यायोऽस्ति धनादिति।
अत्र ते वर्तयिष्यामि तदेकान्तमनाः शृणु॥ २॥

देवस्थान बोले—राजन्! अर्जुनने जो यह बात कही है कि 'धनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है।' इसके विषयमें मैं भी तुमसे कुछ कहूँगा। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ २॥

अजातशत्रो धर्मेण कृत्स्ना ते वसुधा जिता।
तां जित्वा च वृथा राजन् न परित्यक्तुमर्हसि॥ ३॥

नरेश्वर! अजातशत्रो! तुमने धर्मके अनुसार यह सारी पृथ्वी जीती है। इसे जीतकर व्यर्थ ही त्याग देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है॥ ३॥

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठिता।
तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव॥ ४॥

महाबाहु भूपाल! ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चारों आश्रम ब्रह्मको प्राप्त करानेकी चार

सीढ़ियाँ हैं, जो वेदमें ही प्रतिष्ठित हैं। इन्हें क्रमशः यथोचितरूपसे पार करो॥ ४॥

तस्मात् पार्थ महायज्ञैर्यजस्व बहुदक्षिणैः।
स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथापरे॥ ५॥

कुन्तीनन्दन! अतः तुम बहुत-सी दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करो। स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ तो ऋषिलोग किया करते हैं॥ ५॥

कर्मनिष्ठांश्च बुद्ध्येथास्तपोनिष्ठांश्च पार्थिव।
वैखानसानां कौन्तेय वचनं श्रूयते यथा॥ ६॥

राजन्! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि ऋषियोंमें कुछ लोग कर्मनिष्ठ और तपोनिष्ठ भी होते हैं। कुन्तीनन्दन! वैखानस महात्माओंका वचन इस प्रकार सुननेमें आता है—॥ ६॥

ईहेत धनहेतोर्यस्तस्यानीहा गरीयसी।
भूयान् दोषो हि वर्धेत यस्तं धनमुपाश्रयेत्॥ ७॥

'जो धनके लिये विशेष चेष्टा करता है, वह वैसी चेष्टा न करे—यही सबसे अच्छा है; क्योंकि जो उस धनकी उपासना करने लगता है, उसके महान् दोषकी वृद्धि होती है॥ ७॥

कृच्छ्राच्च द्रव्यसंहारं कुर्वन्ति धनकारणात्।
धनेन तृषितोऽबुद्ध्या भ्रूणहत्यां न बुद्ध्यते॥ ८॥

'लोग धनके लिये बड़े कष्टसे नाना प्रकारके द्रव्योंका संग्रह करते हैं। परंतु धनके लिये प्यासा हुआ मनुष्य अज्ञानवश भ्रूणहत्या-जैसे पापका भागी हो जाता है, इस बातको वह नहीं समझता॥ ८॥

अनर्हते यद् ददाति न ददाति यदर्हते।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद् दानधर्मोऽपि दुष्करः॥ ९॥

'बहुधा मनुष्य अनधिकारीको धन दे देता है और योग्य अधिकारीको नहीं देता। योग्य-अयोग्य पात्रकी पहचान न होनेसे (भ्रूणहत्याके समान दोष लगता है, अतः) दानधर्म भी दुष्कर ही है॥ ९॥

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
यज्ञोद्दिष्टः पुरुषो रक्षिता च।
तस्मात् सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं
धनं ततोऽनन्तर एव कामः॥ १०॥

'ब्रह्माने यज्ञके लिये ही धनकी सृष्टि की है तथा यज्ञके उद्देश्यसे ही उसकी रक्षा करनेवाले पुरुषको उत्पन्न किया है, इसलिये यज्ञमें ही सम्पूर्ण धनका उपयोग कर देना चाहिये। फिर शीघ्र ही (उस यज्ञसे ही) यजमानके सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धि हो जाती है॥ १०॥

यज्ञैरिन्द्रो विविधै रत्नवद्भि-
र्देवान् सर्वानभ्ययाद् भूरितेजाः।
तेनेन्द्रत्वं प्राप्य विभ्राजतेऽसौ
तस्माद् यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम्॥ ११॥

'महातेजस्वी इन्द्र धनरत्नोंसे सम्पन्न नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यज्ञपुरुषका यजन करके सम्पूर्ण देवताओंसे अधिक उत्कर्षशाली हो गये; इसलिये इन्द्रका पद पाकर वे स्वर्गलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं, अतः यज्ञमें ही सम्पूर्ण धनका उपयोग करना चाहिये॥ ११॥

महादेवः सर्वयज्ञे महात्मा
हुत्वाऽऽत्मानं देवदेवो बभूव।
विश्वाँल्लोकान् व्याप्य विष्टभ्य कीर्त्या
विराजते द्युतिमान् कृत्तिवासाः॥ १२॥

'गजासुरके चर्मको वस्त्रकी भाँति धारण करनेवाले महात्मा महादेवजी सर्वस्वसमर्पणरूप यज्ञमें अपने-आपको होमकर देवताओंके भी देवता हो गये। वे अपने उत्तम कीर्तिसे सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त करके तेजस्वी रूपसे प्रकाशित हो रहे हैं॥ १२॥

आविक्षितः पार्थिवोऽसौ मरुत्तो
वृद्ध्या शक्रं योऽजयद् देवराजम्।
यज्ञे यस्य श्रीः स्वयं संनिविष्टा
यस्मिन् भाण्डं काञ्चनं सर्वमासीत्॥ १३॥

'अविक्षित्‌के पुत्र सुप्रसिद्ध महाराज मरुत्तने अपनी समृद्धिके द्वारा देवराज इन्द्रको भी पराजित कर दिया था, उनके यज्ञमें लक्ष्मी देवी स्वयं ही पधारी थीं। उस यज्ञके उपयोगमें आये हुए सारे पात्र सोनेके बने हुए थे॥ १३॥

हरिश्चन्द्रः पार्थिवेन्द्रः श्रुतस्ते
यज्ञैरिष्ट्वा पुण्यभाग् वीतशोकः।
ऋद्ध्या शक्रं योऽजयन्मानुषः सं-
स्तस्माद् यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम्॥ १४॥

'राजाधिराज हरिश्चन्द्रका नाम तुमने सुना होगा, जिन्होंने मनुष्य होकर भी अपनी धन-सम्पत्तिके द्वारा इन्द्रको भी परास्त कर दिया था, वे भी अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके पुण्यके भागी एवं शोकशून्य हो गये थे; अतः यज्ञमें ही सारा धन लगा देना चाहिये'॥ १४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि देवस्थानवाक्ये विंशोऽध्यायः॥ २०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें देवस्थानवाक्यविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २०॥

शोकाकुल युधिष्ठिरकी देवर्षि नारदके द्वारा सान्त्वना

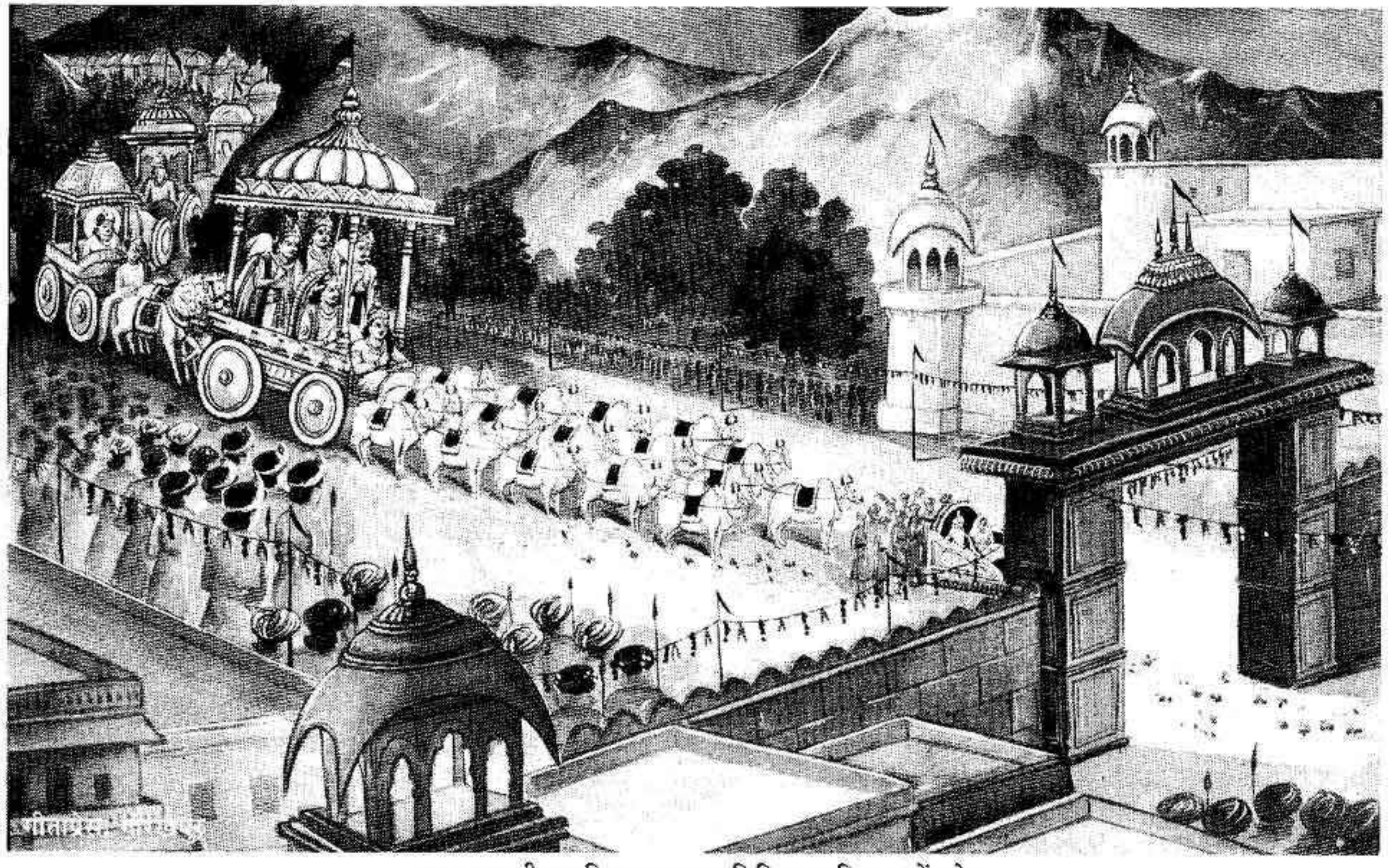

महाभारतकी समाप्तिपर महाराज युधिष्ठिरका हस्तिनापुरमें प्रवेश

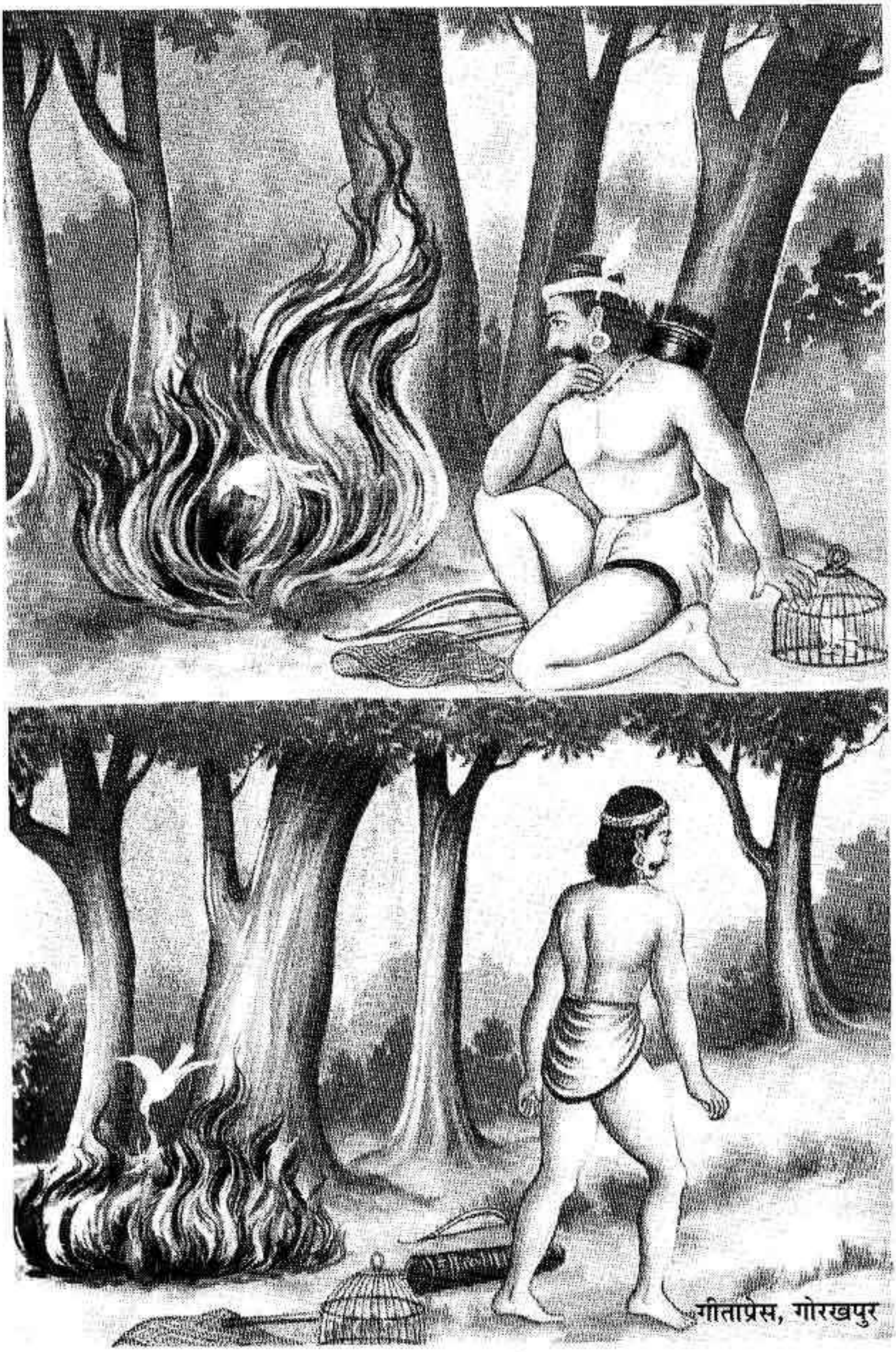

कपोतके द्वारा व्याधका आतिथ्य-सत्कार

कौशिक ब्राह्मणको सावित्रीदेवीका प्रत्यक्ष दर्शन

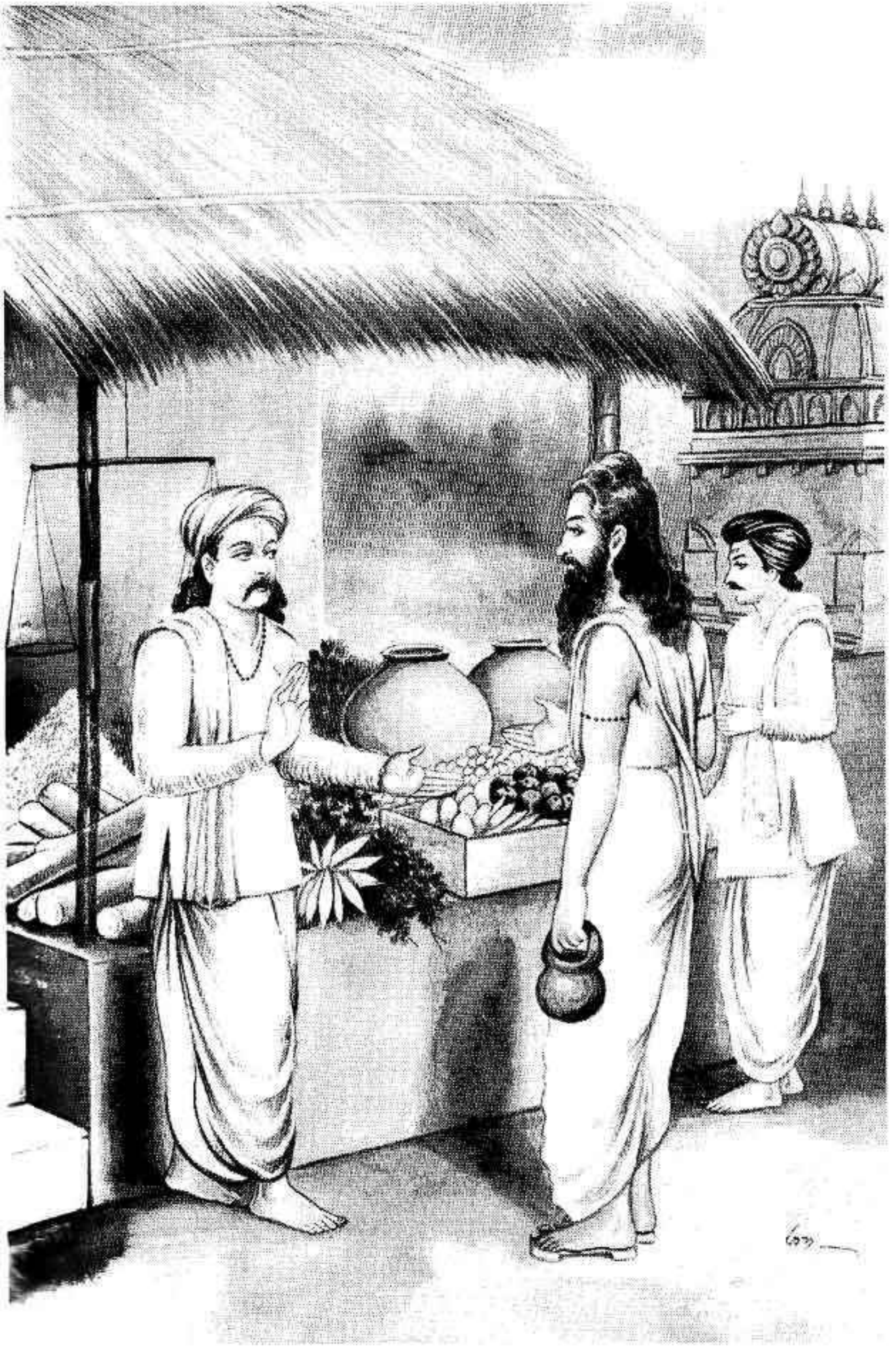

वैश्य तुलाधारके द्वारा मुनि जाजलिका सत्कार

नारदजीको भगवान्‌के विश्वरूपका दर्शन

भगवान् हयग्रीव वेदोंको रसातलसे लाकर ब्रह्माजीको लौटा रहे हैं

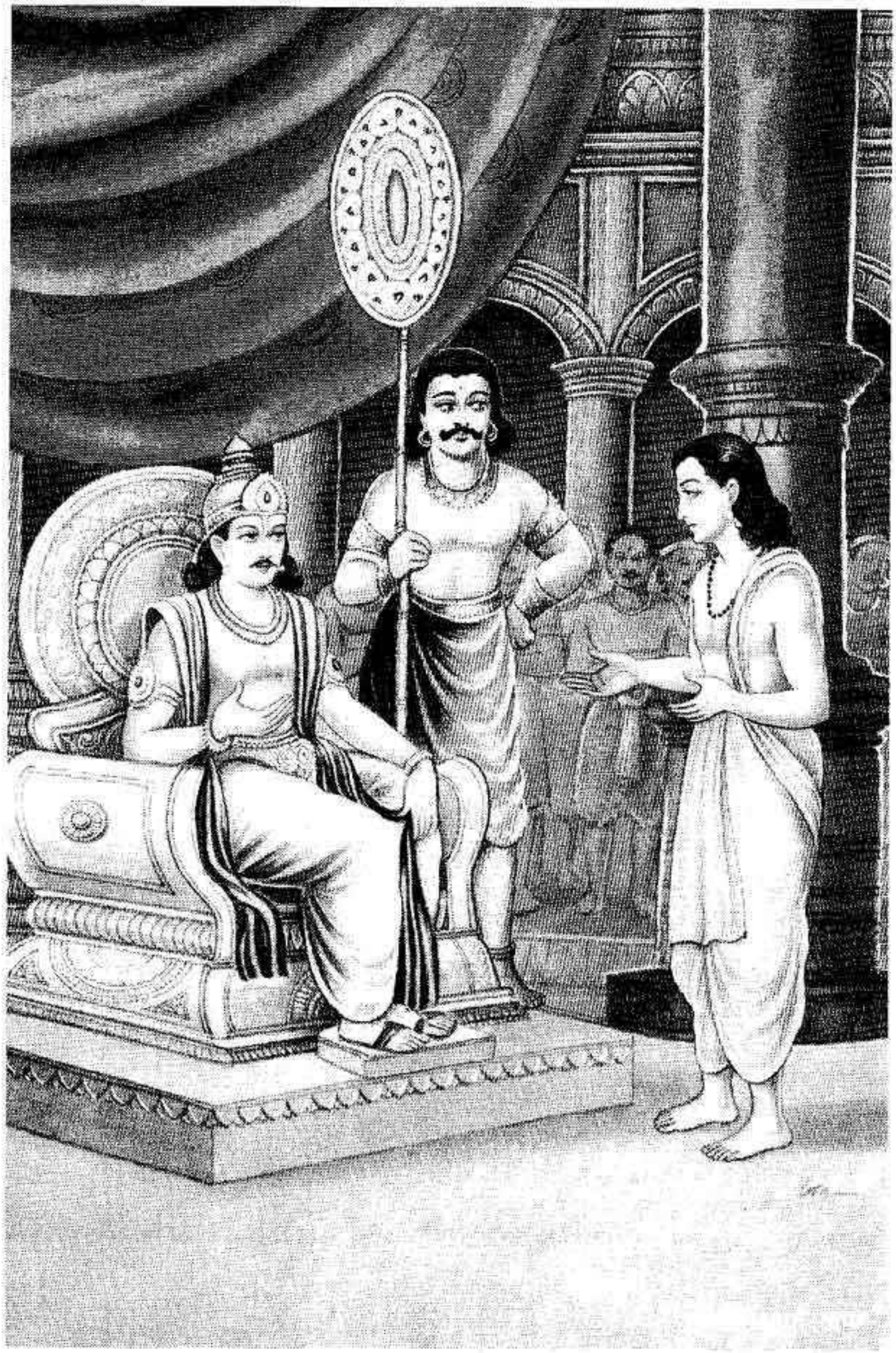

इन्द्रकी ब्राह्मणवेषमें दैत्यराज प्रह्लादसे भेंट

एकविंशोऽध्यायः

देवस्थान मुनिके द्वारा युधिष्ठिरके प्रति उत्तम धर्मका और यज्ञादि करनेका उपदेश

देवस्थान उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रेण समये पृष्टो यदुवाच बृहस्पतिः॥ १॥

देवस्थान कहते हैं—राजन्! इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। किसी समय इन्द्रके पूछनेपर बृहस्पतिने इस प्रकार कहा था—॥ १॥

संतोषो वै स्वर्गतमः संतोषः परमं सुखम्।
तुष्टेर्न किंचित् परतः सा सम्यक् प्रतितिष्ठति॥ २॥

'राजन्! मनुष्यके मनमें संतोष होना स्वर्गकी प्राप्तिसे भी बढ़कर है। संतोष ही सबसे बड़ा सुख है। संतोष यदि मनमें भलीभाँति प्रतिष्ठित हो जाय तो उससे बढ़कर संसारमें कुछ भी नहीं है॥ २॥

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदाऽऽत्मज्योतिरचिरात् स्वात्मन्येव प्रसीदति॥ ३॥

'जैसे कछुआ अपने अंगोंको सब ओरसे सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य अपनी सब कामनाओंको सब ओरसे समेट लेता है, उस समय तुरंत ही ज्योतिः-स्वरूप आत्मा अपने अन्तःकरणमें प्रकाशित हो जाता है॥

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति।
कामद्वेषौ च जयति तदाऽऽत्मानं च पश्यति॥ ४॥

'जब मनुष्य किसीसे भय नहीं मानता और जब उससे भी दूसरे प्राणी भय नहीं मानते तथा जब वह काम (राग) और द्वेषको जीत लेता है, तब अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है॥ ४॥

यदासौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न काङ्क्षति।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ५॥

'जब वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंमेंसे किसीके साथ न तो द्रोह करता है और न किसीकी अभिलाषा ही रखता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है'॥ ५॥

एवं कौन्तेय भूतानि तं तं धर्मं तथा तथा।
तदाऽऽत्मना प्रपश्यन्ति तस्माद् बुद्ध्यस्व भारत॥ ६॥

कुन्तीनन्दन! इस प्रकार सम्पूर्ण जीव उस-उस धर्मका उसी-उसी प्रकारसे जब ठीक-ठीक पालन करते हैं, तब स्वयं आत्मासे परमात्माका साक्षात्कार कर लेते हैं; अतः भरतनन्दन! इस समय तुम अपना कर्तव्य समझो॥ ६॥

अन्ये साम प्रशंसन्ति व्यायाममपरे जनाः।
नैकं न चापरं केचिदुभयं च तथापरे॥ ७॥

कुछ लोग साम (प्रेमपूर्ण बर्ताव) की प्रशंसा करते हैं और कोई व्यायाम (यत्न और परिश्रम) के गुण गाते हैं। कोई इन दोनोंमेंसे एक (साम) की प्रशंसा नहीं करते हैं तो कोई दूसरे (व्यायाम) की, तथा कुछ लोग दोनोंकी ही बड़ी प्रशंसा करते हैं॥ ७॥

यज्ञमेव प्रशंसन्ति संन्यासमपरे जनाः।
दानमेके प्रशंसन्ति केचिच्चैव प्रतिग्रहम्॥ ८॥

कोई यज्ञको ही अच्छा बताते हैं तो दूसरे लोग संन्यासकी ही सराहना करते हैं। कोई दान देनेके प्रशंसक हैं तो कोई दान लेनेके॥ ८॥

केचित् सर्वं परित्यज्य तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
राज्यमेके प्रशंसन्ति प्रजानां परिपालनम्॥ ९॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च केचिदेकान्तशीलिनः।

कोई सब छोड़कर चुपचाप भगवान्‌के ध्यानमें लगे रहते हैं और कुछ लोग मार-काट मचाकर शत्रुओंकी सेनाको विदीर्ण करके राज्य पानेके अनन्तर प्रजापालनरूपी धर्मकी प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे लोग एकान्तमें रहकर आत्मचिन्तन करना अच्छा समझते हैं॥ ९½॥

एतत् सर्वं समालोक्य बुधानामेष निश्चयः॥ १०॥
अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः।

इन सब बातोंपर विचार करके विद्वानोंने ऐसा निश्चय किया है कि किसी भी प्राणीसे द्रोह न करके जिस धर्मका पालन होता है, वही साधु पुरुषोंकी रायमें उत्तम धर्म है॥ १०½॥

अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः॥ ११॥
प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम्।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ १२॥

किसीसे द्रोह न करना, सत्य बोलना, (बलिवैश्वदेव कर्मद्वारा) समस्त प्राणियोंको यथायोग्य उनका भाग समर्पित करना, सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना, मन और इन्द्रियोंका संयम करना, अपनी ही पत्नीसे संतान उत्पन्न करना तथा मृदुता, लज्जा एवं अचंचलता आदि गुणोंको अपनाना—ये श्रेष्ठ एवं अभीष्ट धर्म हैं—ऐसा स्वायम्भुव मनुका कथन है॥ ११-१२॥

तस्मादेतत् प्रयत्नेन कौन्तेय प्रतिपालय।
यो हि राज्ये स्थितः शश्वद् वशी तुल्यप्रियाप्रियः॥ १३॥

क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजा शास्त्रार्थतत्त्ववित्।
असाधुनिग्रहरतः साधूनां प्रग्रहे रतः॥ १४॥
धर्मवर्त्मनि संस्थाप्य प्रजा वर्तेत धर्मतः।
पुत्रसंक्रामितश्रीश्च वने वन्येन वर्तयन्॥ १५॥
विधिना श्रावणेनैव कुर्यात् कर्माण्यतन्द्रितः।
य एवं वर्तते राजन् स राजा धर्मनिश्चितः॥ १६॥

कुन्तीनन्दन! अतः तुम भी प्रयत्नपूर्वक इस धर्मका पालन करो। जो क्षत्रियनरेश राज्यसिंहासनपर स्थित हो अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको सदा अपने अधीन रखता है, प्रिय और अप्रियको समानदृष्टिसे देखता है, यज्ञसे बचे हुए अन्नका भोजन करता है, शास्त्रोंके यथार्थ रहस्यको जानता है, दुष्टोंका दमन और साधु पुरुषोंका पालन करता है, समस्त प्रजाको धर्मके मार्गमें स्थापित करके स्वयं भी धर्मानुकूल बर्ताव करता है, वृद्धावस्थामें राजलक्ष्मीको पुत्रके अधीन करके वनमें जाकर जंगली फल-मूलोंका आहार करते हुए जीवन बिताता है तथा वहाँ भी शास्त्र-श्रवणसे ज्ञात हुए शास्त्रविहित कर्मोंका आलस्य छोड़कर पालन करता है, ऐसा बर्ताव करनेवाला वह राजा ही धर्मको निश्चितरूपसे जानने और माननेवाला है॥

तस्यायं च परश्चैव लोकः स्यात् सफलोदयः।
निर्वाणं हि सुदुष्प्राप्यं बहुविघ्नं च मे मतम्॥ १७॥

उसका यह लोक और परलोक दोनों सफल हो जाते हैं, मेरा यह विश्वास है कि संन्यासके द्वारा निर्वाण प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर एवं दुर्लभ है; क्योंकि उसमें बहुत-से विघ्न आते हैं॥ १७॥

एवं धर्ममनुक्रान्ताः सत्यदानतपःपराः।
आनृशंस्यगुणैर्युक्ताः कामक्रोधविवर्जिताः॥ १८॥
प्रजानां पालने युक्ता धर्ममुत्तममास्थिताः।
गोब्राह्मणार्थे युध्यन्तः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम्॥ १९॥

इस प्रकार धर्मका अनुसरण करनेवाले, सत्य, दान और तपमें संलग्न रहनेवाले, दया आदि गुणोंसे युक्त, काम-क्रोध आदि दोषोंसे रहित, प्रजापालन-परायण, उत्तम धर्मसेवी तथा गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये युद्ध करनेवाले नरेशोंने परम उत्तम गति प्राप्त की है॥ १८-१९॥

एवं रुद्राः सवसवस्तथाऽऽदित्याः परंतप।
साध्या राजर्षिसंघाश्च धर्ममेतं समाश्रिताः।
अप्रमत्तास्ततः स्वर्गं प्राप्ताः पुण्यैः स्वकर्मभिः॥ २०॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले युधिष्ठिर! इसी प्रकार रुद्र, वसु, आदित्य, साध्यगण तथा राजर्षिसमूहोंने सावधान होकर इस धर्मका आश्रय लिया है। फिर उन्होंने अपने पुण्यकर्मोंद्वारा स्वर्गलोक प्राप्त किया है॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि देवस्थानवाक्ये एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें देवस्थानवाक्यविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

क्षत्रियधर्मकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनका पुनः राजा युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेवान्तरे वाक्यं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्।
निर्विण्णमनसं ज्येष्ठमिदं भ्रातरमच्युतम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी बीचमें देवस्थानका भाषण समाप्त होते ही अर्जुनने खिन्नचित्त होकर बैठे हुए तथा कभी धर्मसे च्युत न होनेवाले अपने बड़े भाई युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य राज्यं सुदुर्लभम्।
जित्वा चारीन् नरश्रेष्ठ तप्यते किं भृशं भवान्॥ २॥

'धर्मके ज्ञाता नरश्रेष्ठ! आप क्षत्रियधर्मके अनुसार इस परम दुर्लभ राज्यको पाकर और शत्रुओंको जीतकर इतने अधिक संतप्त क्यों हो रहे हैं?॥ २॥

क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं मतम्।
विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममनुस्मर॥ ३॥

'महाराज! आप क्षत्रियधर्मको स्मरण तो कीजिये, क्षत्रियोंके लिये संग्राममें मर जाना तो बहुसंख्यक यज्ञोंसे भी बढ़कर माना गया है॥ ३॥

ब्राह्मणानां तपस्त्यागः प्रेत्य धर्मविधिः स्मृतः।
क्षत्रियाणां च निधनं संग्रामे विहितं प्रभो॥ ४॥

'प्रभो! तप और त्याग ब्राह्मणोंके धर्म हैं जो मृत्युके पश्चात् परलोकमें धर्मजनित फल देनेवाले हैं। क्षत्रियोंके लिये संग्राममें प्राप्त हुई मृत्यु ही पारलौकिक पुण्यफलकी प्राप्ति करानेवाली है॥ ४॥

क्षात्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः।
वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे॥ ५॥

'भरतश्रेष्ठ! क्षत्रियोंका धर्म बड़ा भयंकर है। उसमें सदा शस्त्रसे ही काम पड़ता है और समय आनेपर युद्धमें शस्त्रद्वारा उनका वध भी हो जाता है (अतः उनके लिये शोक करनेका कोई कारण नहीं है)॥ ५॥

ब्राह्मणस्यापि चेद् राजन् क्षत्रधर्मेण वर्ततः।
प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम्॥ ६॥

'राजन्! ब्राह्मण भी यदि क्षत्रियधर्मके अनुसार जीवन-निर्वाह करता हो तो लोकमें उसका जीवन उत्तम ही माना गया है; क्योंकि क्षत्रियकी उत्पत्ति ब्राह्मणसे ही हुई है॥ ६॥

न त्यागो न पुनर्यज्ञो न तपो मनुजेश्वर।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्वोपजीवनम्॥ ७॥

'नरेश्वर! क्षत्रियके लिये त्याग, यज्ञ, तप और दूसरेके धनसे जीवन-निर्वाहका विधान नहीं है॥ ७॥

स भवान् सर्वधर्मज्ञो धर्मात्मा भरतर्षभ।
राजा मनीषी निपुणो लोके दृष्टपरावरः॥ ८॥

'भरतश्रेष्ठ! आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता, धर्मात्मा, राजा, मनीषी, कर्मकुशल और संसारमें आगे-पीछेकी सब बातोंपर दृष्टि रखनेवाले हैं॥ ८॥

त्यक्त्वा संतापजं शोकं दंशितो भव कर्मणि।
क्षत्रियस्य विशेषेण हृदयं वज्रसंनिभम्॥ ९॥

'आप यह शोक-संताप छोड़कर क्षत्रियोचित कर्म करनेके लिये तैयार हो जाइये। क्षत्रियका हृदय तो विशेषरूपसे वज्रके तुल्य कठोर होता है॥ ९॥

जित्वारीन् क्षत्रधर्मेण प्राप्य राज्यमकण्टकम्।
विजितात्मा मनुष्येन्द्र यज्ञदानपरो भव॥ १०॥

'नरेन्द्र! आपने क्षत्रियधर्मके अनुसार शत्रुओंको जीतकर निष्कण्टक राज्य प्राप्त किया है। अब अपने मनको वशमें करके यज्ञ और दानमें संलग्न हो जाइये॥ १०॥

इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः क्षत्रियः कर्मणाभवत्।
ज्ञातीनां पापवृत्तीनां जघान नवतीर्नव॥ ११॥

'देखिये! इन्द्र ब्राह्मणके पुत्र हैं, किंतु कर्मसे क्षत्रिय हो गये हैं। उन्होंने पापमें प्रवृत्त हुए अपने ही भाई-बन्धुओं (दैत्यों)-मेंसे आठ सौ दस व्यक्तियोंको मार डाला॥ ११॥

तच्चास्य कर्म पूज्यं च प्रशस्यं च विशाम्पते।
तेनेन्द्रत्वं समापेदे देवानामिति नः श्रुतम्॥ १२॥

'प्रजानाथ! उनका वह कर्म पूजनीय एवं प्रशंसाके योग्य माना गया। उन्होंने उसी कर्मसे देवेन्द्रपद प्राप्त कर लिया, ऐसा हमने सुना है॥ १२॥

स त्वं यज्ञैर्महाराज यजस्व बहुदक्षिणैः।
यथैवेन्द्रो मनुष्येन्द्र चिराय विगतज्वरः॥ १३॥

'महाराज! नरेन्द्र! आप भी इन्द्रके समान ही चिन्ता और शोकसे रहित हो दीर्घ कालतक बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करते रहिये॥ १३॥

मा त्वमेवं गते किंचिच्छोचेथाः क्षत्रियर्षभ।
गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूताः परां गतिम्॥ १४॥

'क्षत्रियशिरोमणे! ऐसी अवस्थामें आप तनिक भी शोक न कीजिये। युद्धमें मारे गये वे सभी वीर क्षत्रियधर्मके अनुसार शस्त्रोंसे पवित्र होकर परम गतिको प्राप्त हो गये हैं॥ १४॥

भवितव्यं तथा तच्च यद् वृत्तं भरतर्षभ।
दिष्टं हि राजशार्दूल न शक्यमतिवर्तितुम्॥ १५॥

'भरतश्रेष्ठ! जो कुछ हुआ है, वह उसी रूपमें होनेवाला था। राजसिंह! दैवके विधानका उल्लंघन नहीं किया जा सकता॥ १५॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

व्यासजीका शंख और लिखितकी कथा सुनाते हुए राजा सुद्युम्नके दण्डधर्मपालनका महत्त्व सुनाकर युधिष्ठिरको राजधर्ममें ही दृढ़ रहनेकी आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो गुडाकेशेन पाण्डवः।
नोवाच किंचित् कौरव्यस्ततो द्वैपायनोऽब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! निद्राविजयी अर्जुनके ऐसा कहनेपर भी कुरुकुलनन्दन पाण्डुपुत्र कुन्तीकुमार युधिष्ठिर जब कुछ न बोले, तब द्वैपायन व्यासजीने इस प्रकार कहा॥ १॥

व्यास उवाच

बीभत्सोर्वचनं सौम्य सत्यमेतद् युधिष्ठिर।
शास्त्रदृष्टः परो धर्मः स्थितो गार्हस्थ्यमाश्रितः॥ २॥

व्यासजी बोले—सौम्य युधिष्ठिर! अर्जुनने जो बात कही है, वह ठीक है। शास्त्रोक्त परमधर्म गृहस्थ-आश्रमका ही आश्रय लेकर टिका हुआ है॥ २॥

स्वधर्मं चर धर्मज्ञ यथाशास्त्रं यथाविधि।
न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते॥ ३॥

धर्मज्ञ युधिष्ठिर! तुम शास्त्रके कथनानुसार विधिपूर्वक स्वधर्मका ही आचरण करो। तुम्हारे लिये गृहस्थ-आश्रमको छोड़कर वनमें जानेका विधान नहीं है॥ ३॥

गृहस्थं हि सदा देवाः पितरोऽतिथयस्तथा।
भृत्याश्चैवोपजीवन्ति तान् भरस्व महीपते॥ ४॥

पृथ्वीनाथ! देवता, पितर, अतिथि और भृत्यगण सदा गृहस्थका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं; अतः तुम उनका भरण-पोषण करो॥ ४॥

वयांसि पशवश्चैव भूतानि च जनाधिप।
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी॥ ५॥

जनेश्वर! पशु, पक्षी तथा अन्य प्राणी भी गृहस्थोंसे ही पालित होते हैं; अतः गृहस्थ ही सबसे श्रेष्ठ है॥ ५॥

सोऽयं चतुर्णामेतेषामाश्रमाणां दुराचरः।
तं चराद्य विधिं पार्थ दुश्चरं दुर्बलेन्द्रियैः॥ ६॥

युधिष्ठिर! चारों आश्रमोंमें यह गृहस्थाश्रम ही ऐसा है, जिसका ठीक-ठीक पालन करना बहुत कठिन है। जिनकी इन्द्रियाँ दुर्बल हैं, उनके द्वारा गृहस्थ-धर्मका आचरण दुष्कर है। तुम अब उसी दुष्कर धर्मका पालन करो॥ ६॥

वेदज्ञानं च ते कृत्स्नं तपश्चाचरितं महत्।
पितृपैतामहं राज्यं धुर्यवद् वोढुमर्हसि॥ ७॥

तुम्हें वेदका पूरा-पूरा ज्ञान है, तुमने बड़ी भारी तपस्या की है। इसलिये अपने पिता-पितामहोंके इस राज्यका भार तुम्हें एक धुरन्धर पुरुषकी भाँति वहन करना चाहिये॥ ७॥

तपो यज्ञस्तथा विद्या भैक्ष्यमिन्द्रियसंयमः।
ध्यानमेकान्तशीलत्वं तुष्टिर्ज्ञानं च शक्तितः॥ ८॥
ब्राह्मणानां महाराज चेष्टा संसिद्धिकारिका।

महाराज! तप, यज्ञ, विद्या, भिक्षा, इन्द्रियसंयम, ध्यान, एकान्तवासका स्वभाव, संतोष और यथाशक्ति शास्त्रज्ञान—ये सब गुण तथा चेष्टाएँ ब्राह्मणोंके लिये सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं॥ ८½॥

क्षत्रियाणां तु वक्ष्यामि तवापि विदितं पुनः॥ ९॥
यज्ञो विद्या समुत्थानमसंतोषः श्रियं प्रति।
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम्॥ १०॥
वेदज्ञानं तथा कृत्स्नं तपः सुचरितं तथा।
द्रविणोपार्जनं भूरि पात्रे च प्रतिपादनम्॥ ११॥
एतानि राज्ञां कर्माणि सुकृतानि विशाम्पते।
इमं लोकममुं चैव साधयन्तीति नः श्रुतम्॥ १२॥

प्रजानाथ! अब मैं पुनः क्षत्रियोंके धर्म बता रहा हूँ, यद्यपि वह तुम्हें भी ज्ञात है। यज्ञ, विद्याभ्यास, शत्रुओंपर चढ़ाई करना, राजलक्ष्मीकी प्राप्तिसे कभी संतुष्ट न होना, दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना, क्षत्रियतेजसे सम्पन्न रहना, प्रजाकी सब ओरसे रक्षा करना, समस्त वेदोंका ज्ञान प्राप्त करना, तप, सदाचार, अधिक द्रव्योपार्जन और सत्पात्रको दान देना—ये सब राजाओंके कर्म हैं, जो सुन्दर ढंगसे किये जानेपर उनके इहलोक और परलोक दोनोंको सफल बनाते हैं, ऐसा हमने सुना है॥ ९—१२॥

एषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारणमुच्यते।
बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्डः समाहितः॥ १३॥

कुन्तीनन्दन! इनमें भी दण्ड धारण करना राजाका प्रधान धर्म बताया जाता है; क्योंकि क्षत्रियमें बलकी नित्य स्थिति है और बलमें ही दण्ड प्रतिष्ठित होता है॥ १३॥

एता विद्याः क्षत्रियाणां राजन् संसिद्धिकारिकाः।
अपि गाथामिमां चापि बृहस्पतिरगायत॥ १४॥

राजन्! ये विद्याएँ (धार्मिक क्रियाएँ) क्षत्रियोंको सदा सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं। इस विषयमें बृहस्पतिजीने इस गाथाका भी गान किया है॥ १४॥

भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥ १५॥

'जैसे साँप बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जीवोंको निगल जाता है, उसी प्रकार विरोध न करनेवाले राजा और परदेशमें न जानेवाले ब्राह्मण—इन दो व्यक्तियोंको भूमि निगल जाती है॥ १५॥

सुद्युम्नश्चापि राजर्षिः श्रूयते दण्डधारणात्।
प्राप्तवान् परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा॥ १६॥

सुना जाता है कि राजर्षि सुद्युम्नने दण्डधारणके द्वारा ही प्रचेताकुमार दक्षके समान परम सिद्धि प्राप्त कर ली॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् कर्मणा केन सुद्युम्नो वसुधाधिपः।
संसिद्धिं परमां प्राप्तः श्रोतुमिच्छामि तं नृपम्॥ १७॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! पृथिवीपति सुद्युम्नने किस कर्मसे परम सिद्धि प्राप्त कर ली थी। मैं उन नरेशका चरित्र सुनना चाहता हूँ॥ १७॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शंखश्च लिखितश्चास्तां भ्रातरौ संशितव्रतौ॥ १८॥

व्यासजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं—शंख और लिखित नामवाले दो भाई थे। दोनों ही कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी थे॥ १८॥

तयोरावसथावास्तां रमणीयौ पृथक् पृथक्।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैरुपेतौ बाहुदामनु॥ १९॥

बाहुदा नदीके तटपर उन दोनोंके अलग-अलग परम सुन्दर आश्रम थे, जो सदा फल-फूलोंसे लदे रहनेवाले वृक्षोंसे सुशोभित थे॥ १९॥

ततः कदाचिल्लिखितः शंखस्याश्रममागतः।
यदृच्छयाथ शंखोऽपि निष्क्रान्तोऽभवदाश्रमात्॥ २०॥

एक दिन लिखित शंखके आश्रमपर आये। दैवेच्छासे शंख भी उसी समय आश्रमसे बाहर निकल गये थे॥

सोऽभिगम्याश्रमं भ्रातुः शंखस्य लिखितस्तदा।
फलानि पातयामास सम्यक्पक्वानि तान्युत॥ २१॥
तान्युपादाय विस्रब्धो भक्षयामास स द्विजः।

भाई शंखके आश्रममें जाकर लिखितने खूब पके हुए बहुत-से फल तोड़कर गिराये और उन सबको लेकर वे ब्रह्मर्षि बड़ी निश्चिन्तताके साथ खाने लगे॥ २१½॥

तस्मिंश्च भक्षयत्येव शंखोऽप्याश्रममागतः॥ २२॥
भक्षयन्तं तु तं दृष्ट्वा शंखो भ्रातरमब्रवीत्।
कुतः फलान्यवाप्तानि हेतुना केन खादसि॥ २३॥

वे खा ही रहे थे कि शंख भी आश्रमपर लौट आये। भाईको फल खाते देख शंखने उनसे पूछा—'तुमने ये फल कहाँसे प्राप्त किये हैं और किसलिये तुम इन्हें खा रहे हो?'॥ २२-२३॥

सोऽब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमुपसृत्याभिवाद्य च।
इत एव गृहीतानि मयेति प्रहसन्निव॥ २४॥

लिखितने निकट जाकर बड़े भाईको प्रणाम किया और हँसते हुए-से इस प्रकार कहा—'भैया! मैंने ये फल यहींसे लिये हैं'॥ २४॥

तमब्रवीत् तथा शंखस्तीव्ररोषसमन्वितः।
स्तेयं त्वया कृतमिदं फलान्याददता स्वयम्॥ २५॥

तब शंखने तीव्र रोषमें भरकर कहा—'तुमने मुझसे पूछे बिना स्वयं ही फल लेकर यह चोरी की है॥ २५॥

गच्छ राजानमासाद्य स्वकर्म कथयस्व वै।
अदत्तादानमेवं हि कृतं पार्थिवसत्तम॥ २६॥
एनं मां त्वं विदित्वा च स्वधर्ममनुपालय।
शीघ्रं धारय चौरस्य मम दण्डं नराधिप॥ २७॥

'अतः तुम राजाके पास जाओ और अपनी करतूत उन्हें कह सुनाओ। उनसे कहना—'नृपश्रेष्ठ! मैंने इस प्रकार बिना दिये हुए फल ले लिये हैं, अतः मुझे चोर समझकर अपने धर्मका पालन कीजिये। नरेश्वर! चोरके लिये जो नियत दण्ड हो, वह शीघ्र मुझे प्रदान कीजिये'॥

इत्युक्तस्तस्य वचनात् सुद्युम्नं स नराधिपम्।
अभ्यगच्छन्महाबाहो लिखितः संशितव्रतः॥ २८॥

महाबाहो! बड़े भाईके ऐसा कहनेपर उनकी आज्ञासे कठोर व्रतका पालन करनेवाले लिखित मुनि राजा सुद्युम्नके पास गये॥ २८॥

सुद्युम्नस्त्वन्तपालेभ्यः श्रुत्वा लिखितमागतम्।
अभ्यगच्छत् सहामात्यः पद्भ्यामेव जनेश्वरः॥ २९॥

सुद्युम्नने द्वारपालोंसे जब यह सुना कि लिखित मुनि आये हैं तो वे नरेश अपने मन्त्रियोंके साथ पैदल ही उनके निकट गये॥ २९॥

तमब्रवीत् समागम्य स राजा धर्मवित्तमम्।
किमागमनमाचक्ष्व भगवन् कृतमेव तत्॥ ३०॥

राजाने उन धर्मज्ञ मुनिसे मिलकर पूछा—'भगवन्! आपका शुभागमन किस उद्देश्यसे हुआ है? यह बताइये और उसे पूरा हुआ ही समझिये'॥ ३०॥

एवमुक्तः स विप्रर्षिः सुद्युम्नमिदमब्रवीत्।
प्रतिश्रुत्य करिष्येति श्रुत्वा तत् कर्तुमर्हसि॥ ३१॥

उनके इस तरह कहनेपर विप्रर्षि लिखितने सुद्युम्नसे यों कहा—'राजन्! पहले यह प्रतिज्ञा कर लो कि 'हम करेंगे' उसके बाद मेरा उद्देश्य सुनो और सुनकर उसे तत्काल पूरा करो॥ ३१॥

अनिसृष्टानि गुरुणा फलानि मनुजर्षभ।
भक्षितानि महाराज तत्र मां शाधि मा चिरम्॥ ३२॥

'नरश्रेष्ठ! मैंने बड़े भाईके दिये बिना ही उनके बगीचेसे फल लेकर खा लिये हैं; महाराज! इसके लिये मुझे शीघ्र दण्ड दीजिये'॥ ३२॥

सुद्युम्न उवाच

प्रमाणं चेन्मतो राजा भवतो दण्डधारणे।
अनुज्ञायामपि तथा हेतुः स्याद् ब्राह्मणर्षभ॥ ३३॥

सुद्युम्नने कहा—ब्राह्मणशिरोमणे! यदि आप दण्ड देनेमें राजाको प्रमाण मानते हैं तो वह क्षमा करके आपको लौट जानेकी आज्ञा दे दे, इसका भी उसे अधिकार है॥ ३३॥

स भवानभ्यनुज्ञातः शुचिकर्मा महाव्रतः।
ब्रूहि कामानतोऽन्यांस्त्वं करिष्यामि हि ते वचः॥ ३४॥

आप पवित्र कर्म करनेवाले और महान् व्रतधारी हैं। मैंने अपराधको क्षमा करके आपको जानेकी आज्ञा दे दी। इसके सिवा, यदि दूसरी कामनाएँ आपके मनमें

हों तो उन्हें बताइये, मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा॥

व्यास उवाच

संछन्द्यमानो ब्रह्मर्षिः पार्थिवेन महात्मना।
नान्यं स वरयामास तस्माद् दण्डादृते वरम्॥ ३५॥

व्यासजीने कहा—महामना राजा सुद्युम्नके बारंबार आग्रह करनेपर भी ब्रह्मर्षि लिखितने उस दण्डके सिवा दूसरा कोई वर नहीं माँगा॥ ३५॥

ततः स पृथिवीपालो लिखितस्य महात्मनः।
करौ प्रच्छेदयामास धृतदण्डो जगाम सः॥ ३६॥

तब उन भूपालने महामना लिखितके दोनों हाथ कटवा दिये। दण्ड पाकर लिखित वहाँसे चले गये॥ ३६॥

स गत्वा भ्रातरं शंखमार्तरूपोऽब्रवीदिदम्।
धृतदण्डस्य दुर्बुद्धेर्भवांस्तत् क्षन्तुमर्हति॥ ३७॥

अपने भाई शंखके पास जाकर लिखितने आर्त होकर कहा—'भैया! मैंने दण्ड पा लिया। मुझ दुर्बुद्धिके उस अपराधको आप क्षमा कर दें'॥ ३७॥

शंख उवाच

न कुप्ये तव धर्मज्ञ न त्वं दूषयसे मम।
सुनिर्मलं कुलं ब्रह्मन्नस्मिन् जगति विश्रुतम्।
धर्मस्तु ते व्यतिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता॥ ३८॥

शंख बोले—धर्मज्ञ! मैं तुमपर कुपित नहीं हूँ। तुम मेरा कोई अपराध नहीं करते हो। ब्रह्मन्! हम दोनोंका कुल इस जगत्में अत्यन्त निर्मल एवं निष्कलंक रूपमें विख्यात है। तुमने धर्मका उल्लंघन किया था, अतः उसीका प्रायश्चित्त किया है॥ ३८॥

त्वं गत्वा बाहुदां शीघ्रं तर्पयस्व यथाविधि।
देवानृषीन् पितॄंश्चैवं मा चाधर्मे मनः कृथाः॥ ३९॥

अब तुम शीघ्र ही बाहुदा नदीके तटपर जाकर विधिपूर्वक देवताओं, ऋषियों और पितरोंका तर्पण करो। भविष्यमें फिर कभी अधर्मकी ओर मन न ले जाना॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शंखस्य लिखितस्तदा।
अवगाह्यापगां पुण्यामुदकार्थं प्रचक्रमे॥ ४०॥
प्रादुरास्तां ततस्तस्य करौ जलजसंनिभौ।

शंखकी वह बात सुनकर लिखितने उस समय पवित्र नदी बाहुदामें स्नान किया और पितरोंका तर्पण करनेके लिये चेष्टा आरम्भ की। इतनेहीमें उनके कमल-सदृश सुन्दर दो हाथ प्रकट हो गये॥ ४०½॥

ततः स विस्मितो भ्रातुर्दर्शयामास तौ करौ॥ ४१॥
ततस्तमब्रवीच्छंखस्तपसेदं कृतं मया।
मा च तेऽत्र विशंकाभूद् दैवमत्र विधीयते॥ ४२॥

तदनन्तर लिखितने चकित होकर अपने भाईको वे दोनों हाथ दिखाये। तब शंखने उनसे कहा—'भाई! इस विषयमें तुम्हें शंका नहीं होनी चाहिये। मैंने तपस्यासे तुम्हारे हाथ उत्पन्न किये हैं। यहाँ दैवका विधान ही सफल हुआ है॥ ४१-४२॥

लिखित उवाच

किं तु नाहं त्वया पूतः पूर्वमेव महाद्युते।
यस्य ते तपसो वीर्यमीदृशं द्विजसत्तम॥ ४३॥

तब लिखितने पूछा—महातेजस्वी द्विजश्रेष्ठ! जब आपकी तपस्याका ऐसा बल है तो आपने पहले ही मुझे पवित्र क्यों नहीं कर दिया?॥ ४३॥

शंख उवाच

एवमेतन्मया कार्यं नाहं दण्डधरस्तव।
स च पूतो नरपतिस्त्वं चापि पितृभिः सह॥ ४४॥

शंख बोले—भाई! यह ठीक है, मैं ऐसा कर सकता था; परंतु मुझे तुम्हें दण्ड देनेका अधिकार नहीं है। दण्ड देनेका कार्य तो राजाका ही है। इस प्रकार दण्ड देकर राजा सुद्युम्न और उस दण्डको स्वीकार करके तुम पितरोंसहित पवित्र हो गये॥ ४४॥

व्यास उवाच

स राजा पाण्डवश्रेष्ठ श्रेयान् वै तेन कर्मणा।
प्राप्तवान् परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा॥ ४५॥

व्यासजी कहते हैं—पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर! उस दण्ड-प्रदानरूपी कर्मसे राजा सुद्युम्न उच्चतम पदको प्राप्त हुए। उन्होंने प्रचेताओंके पुत्र दक्षकी भाँति परम सिद्धि प्राप्त की थी॥ ४५॥

एष धर्मः क्षत्रियाणां प्रजानां परिपालनम्।
उत्पथोऽन्यो महाराज मा स्म शोके मनः कृथाः॥ ४६॥

महाराज! प्रजाजनोंका पूर्णरूपसे पालन करना ही क्षत्रियोंका मुख्य धर्म है। दूसरा काम उसके लिये कुमार्गके तुल्य है; अतः तुम मनको शोकमें न डुबाओ॥

भ्रातुरस्य हितं वाक्यं शृणु धर्मज्ञ सत्तम।
दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम्॥ ४७॥

धर्मके ज्ञाता सत्पुरुष! तुम अपने भाईकी हितकर बात सुनो। राजेन्द्र! दण्ड-धारण ही क्षत्रिय-धर्मके अन्तर्गत है, मूँड़ मुड़ाकर संन्यासी बनना नहीं॥ ४७॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

व्यासजीका युधिष्ठिरको राजा हयग्रीवका चरित्र सुनाकर उन्हें राजोचित कर्तव्यका पालन करनेके लिये जोर देना

वैशम्पायन उवाच

पुनरेव महर्षिस्तं कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
अजातशत्रुं कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्णद्वैपायन महर्षि व्यासजीने अजातशत्रु कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १॥

अरण्ये वसतां तात भ्रातॄणां ते मनस्विनाम्।
मनोरथा महाराज ये तत्रासन् युधिष्ठिर॥ २॥
तानिमे भरतश्रेष्ठ प्राप्नुवन्तु महारथाः।

'तात! महाराज युधिष्ठिर! वनमें रहते समय तुम्हारे मनस्वी भाइयोंके मनमें जो-जो मनोरथ उत्पन्न हुए थे, भरतश्रेष्ठ! उन्हें ये महारथी वीर प्राप्त करें॥ २½॥

प्रशाधि पृथिवीं पार्थ ययातिरिव नाहुषः॥ ३॥
अरण्ये दुःखवसतिरनुभूता तपस्विभिः।
दुःखस्यान्ते नरव्याघ्र सुखान्यनुभवन्तु वै॥ ४॥

'कुन्तीनन्दन! तुम नहुषपुत्र ययातिके समान इस पृथिवीका पालन करो। तुम्हारे इन तपस्वी भाइयोंने वनवासके समय बड़े दुःख उठाये हैं। नरव्याघ्र! अब ये उस दुःखके बाद सुखका अनुभव करें॥ ३-४॥

धर्ममर्थं च कामं च भ्रातृभिः सह भारत।
अनुभूय ततः पश्चात् प्रस्थातासि विशाम्पते॥ ५॥

'भरतनन्दन! प्रजानाथ! इस समय भाइयोंके साथ तुम धर्म, अर्थ और कामका उपभोग करो। पीछे वनमें चले जाना॥ ५॥

अर्थिनां च पितॄणां च देवतानां च भारत।
आनृण्यं गच्छ कौन्तेय तत् सर्वं च करिष्यसि॥ ६॥

'भरतनन्दन! कुन्तीकुमार! पहले याचकों, पितरों और देवताओंके ऋणसे उऋण हो लो, फिर वह सब करना॥

सर्वमेधाश्वमेधाभ्यां यजस्व कुरुनन्दन।
ततः पश्चान्महाराज गमिष्यसि परां गतिम्॥ ७॥

'कुरुनन्दन! महाराज! पहले सर्वमेध और अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करो। उससे परम गतिको प्राप्त करोगे॥

भ्रातॄंश्च सर्वान् क्रतुभिः संयोज्य बहुदक्षिणैः।
सम्प्राप्तः कीर्तिमतुलां पाण्डवेय भविष्यसि॥ ८॥

'पाण्डुपुत्र! अपने समस्त भाइयोंको बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञोंमें लगाकर तुम अनुपम कीर्ति प्राप्त कर लोगे॥ ८॥

विद्यास्ते पुरुषव्याघ्र वचनं कुरुसत्तम।
शृणुष्वैवं यथा कुर्वन् न धर्माच्च्यवसे नृप॥ ९॥

'कुरुश्रेष्ठ! पुरुषसिंह नरेश्वर! मैं तो तुम्हारी बात समझता हूँ। अब तुम मेरा यह वचन सुनो, जिसके अनुसार कार्य करनेपर धर्मसे च्युत नहीं होओगे॥ ९॥

आददानस्य विजयं विग्रहं च युधिष्ठिर।
समानधर्मकुशलाः स्थापयन्ति नरेश्वर॥ १०॥

'राजा युधिष्ठिर! विषम भावसे रहित धर्ममें कुशल पुरुष विजय पानेकी इच्छावाले राजाके लिये संग्रामकी ही स्थापना करते हैं॥ १०॥

(प्रत्यक्षमनुमानं च उपमानं तथाऽऽगमः।
अर्थापत्तिस्तथैतिह्यं संशयो निर्णयस्तथा॥
आकारो हीङ्गितश्चैव गतिश्चेष्टा च भारत।
प्रतिज्ञा चैव हेतुश्च दृष्टान्तोपनयौ तथा॥
उक्तं निगमनं तेषां प्रमेयं च प्रयोजनम्।
एतानि साधनान्याहुर्बहुवर्गप्रसिद्धये॥

'भरतनन्दन! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, ऐतिह्य, संशय, निर्णय, आकृति, संकेत, गति, चेष्टा, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—इन सबका प्रयोजन है प्रमेयकी सिद्धि। बहुत-से वर्गोंकी प्रसिद्धिके लिये इन सबको साधन बताया गया है॥

प्रत्यक्षमनुमानं च सर्वेषां योनिरिष्यते।
प्रमाणज्ञो हि शक्नोति दण्डनीतौ विचक्षणः॥
अप्रमाणवतां नीतो दण्डो हन्यान्महीपतिम्।)

'इनमेंसे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो सभीके लिये निर्णयके आधार माने गये हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको जाननेवाला पुरुष दण्डनीतिमें कुशल हो सकता है। जो प्रमाणशून्य हैं, उनके द्वारा प्रयोगमें लाया हुआ दण्ड राजाका विनाश कर सकता है॥

देशकालप्रतीक्षी यो दस्यून् मर्षयते नृपः।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः॥ ११॥

'देश और कालकी प्रतीक्षा करनेवाला जो राजा शास्त्रीय बुद्धिका आश्रय ले लुटेरोंके अपराधको धैर्यपूर्वक सहन करता है अर्थात् उनको दण्ड देनेमें जल्दी नहीं करता, समयकी प्रतीक्षा करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता॥

आदाय बलिषड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति।
प्रतिगृह्णाति तत् पापं चतुर्थांशेन भूमिपः॥ १२॥

'जो प्रजाकी आयका छठा भाग करके रूपमें लेकर भी राष्ट्रकी रक्षा नहीं करता है, वह राजा उसके चौथाई पापको मानो ग्रहण कर लेता है॥ १२॥

निबोध च यथाऽऽतिष्ठन् धर्मान्न च्यवते नृपः।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामनुरुद्ध्यन्नपेतभीः॥ १३॥

'मेरी वह बात सुनो, जिसके अनुसार चलनेवाला राजा धर्मसे नीचे नहीं गिरता। धर्मशास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लंघन करनेसे राजाका पतन हो जाता है और यदि धर्मशास्त्रका अनुसरण करता है तो वह निर्भय होता है॥

कामक्रोधावनादृत्य पितेव समदर्शनः।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः॥ १४॥

'जो काम और क्रोधकी अवहेलना करके शास्त्रीय विधिका आश्रय ले सर्वत्र पिताके समान समदृष्टि रखता है, वह कभी पापसे लिप्त नहीं होता॥ १४॥

दैवेनाभ्याहतो राजा कर्मकाले महाद्युते।
न साधयति यत् कर्म न तत्राहुरतिक्रमम्॥ १५॥

'महातेजस्वी युधिष्ठिर! दैवका मारा हुआ राजा कार्य करनेके समय जिस कार्यको नहीं सिद्ध कर पाता, उसमें उसका कोई दोष या अपराध नहीं बताया जाता है॥

तरसा बुद्धिपूर्वं वा निग्राह्या एव शत्रवः।
पापैः सह न संदध्याद् राज्यं पण्यं न कारयेत्॥ १६॥

'शत्रुओंको अपने बल और बुद्धिसे काबूमें कर ही लेना चाहिये। पापियोंके साथ कभी मेल नहीं करना चाहिये। अपने राज्यको बाजारका सौदा नहीं बनाना चाहिये॥

शूराश्चार्याश्च सत्कार्या विद्वांसश्च युधिष्ठिर।
गोमिनो धनिनश्चैव परिपाल्या विशेषतः॥ १७॥

'युधिष्ठिर! शूरवीरों, श्रेष्ठ पुरुषों तथा विद्वानोंका सत्कार करना बहुत आवश्यक है। अधिक-से-अधिक गौएँ रखनेवाले धनी वैश्योंकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये॥ १७॥

व्यवहारेषु धर्मेषु योक्तव्याश्च बहुश्रुताः।
(प्रमाणज्ञा महीपाल न्यायशास्त्रावलम्बिनः।
वेदार्थतत्त्वविद् राजंस्तर्कशास्त्रबहुश्रुताः॥
मन्त्रे च व्यवहारे च नियोक्तव्या विजानता।

'जो बहुज्ञ विद्वान् हों, उन्हींको धर्म तथा शासन-कार्योंमें लगाना चाहिये। भूपाल! जो प्रमाणोंके ज्ञाता, न्यायशास्त्रका अवलम्बन करनेवाले, वेदोंके तत्त्वज्ञ तथा तर्कशास्त्रके बहुश्रुत विद्वान् हों, उन्हींको विज्ञ पुरुष मन्त्रणा तथा शासन-कार्यमें लगाये॥

तर्कशास्त्रकृता बुद्धिर्धर्मशास्त्रकृता च या॥
दण्डनीतिकृता चैव त्रैलोक्यमपि साधयेत्।

'तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा दण्डनीतिसे प्रभावित हुई बुद्धि तीनों लोकोंकी भी सिद्धि कर सकती है॥

नियोज्या वेदतत्त्वज्ञा यज्ञकर्मसु पार्थिव॥
वेदज्ञा ये च शास्त्रज्ञास्ते च राजन् सुबुद्धयः।

'राजन्! भूपाल! जो वेदोंके तत्त्वज्ञ, वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ तथा उत्तम बुद्धिसे सम्पन्न हों, उन्हें यज्ञकर्मोंमें नियुक्त करना चाहिये॥

आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिषु पारगाः।
ते तु सर्वत्र योक्तव्यास्ते च बुद्धेः परं गताः॥)
गुणयुक्तेऽपि नैकस्मिन् विश्वसेत विचक्षणः॥ १८॥

'आन्वीक्षिकी (वेदान्त), वेदत्रयी, वार्ता तथा दण्डनीतिके जो पारंगत विद्वान् हों, उन्हें सभी कार्योंमें नियुक्त करना चाहिये; क्योंकि वे बुद्धिकी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए होते हैं। एक व्यक्ति कितना ही गुणवान् क्यों न हो, विद्वान् पुरुषको उसपर विश्वास नहीं करना चाहिये॥ १८॥

अरक्षिता दुर्विनीतो मानी स्तब्धोऽभ्यसूयकः।
एनसा युज्यते राजा दुर्दान्त इति चोच्यते॥ १९॥

'जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता, जो उद्दण्ड, मानी, अकड़ रखनेवाला और दूसरोंके दोष देखनेवाला है, वह पापसे संयुक्त होता है और लोग उसे दुर्दान्त कहते हैं॥ १९॥

येऽरक्ष्यमाणा हीयन्ते दैवेनाभ्याहता नृप।
तस्करैश्चापि हीयन्ते सर्वं तद् राजकिल्बिषम्॥ २०॥

'नरेश्वर! जो लोग राजाकी ओरसे सुरक्षित न होनेके कारण अनावृष्टि आदि दैवी आपत्तियोंसे तथा चोरोंके उपद्रवसे नष्ट हो जाते हैं, उनके इस विनाशका सारा पाप राजाको ही लगता है॥ २०॥

सुमन्त्रिते सुनीते च सर्वतश्चोपपादिते।
पौरुषे कर्मणि कृते नास्त्यधर्मो युधिष्ठिर॥ २१॥

'युधिष्ठिर! अच्छी तरह मन्त्रणा की गयी हो, सुन्दर नीतिसे काम लिया गया हो और सब ओरसे पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न किये गये हों (उस अवस्थामें यदि प्रजाको कोई कष्ट हो जाय) तो राजाको उसका पाप नहीं लगता॥ २१॥

विच्छिद्यन्ते समारब्धाः सिद्ध्यन्ते चापि दैवतः।
कृते पुरुषकारे तु नैनः स्पृशति पार्थिवम्॥ २२॥

'आरम्भ किये हुए कार्य दैवकी प्रतिकूलतासे नष्ट हो जाते हैं और उसके अनुकूल होनेपर सिद्ध भी हो जाते हैं; परंतु अपनी ओरसे (यथोचित) पुरुषार्थ कर देनेपर (यदि कार्यकी सिद्धि नहीं भी हुई तो) राजाको

पापका स्पर्श नहीं प्राप्त होता है॥ २२॥

अत्र ते राजशार्दूल वर्तयिष्ये कथामिमाम्।
यद् वृत्तं पूर्वराजर्षेर्हयग्रीवस्य पाण्डव॥ २३॥

'राजसिंह पाण्डुकुमार! इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा सुना रहा हूँ, जो पूर्वकालवर्ती राजर्षि हयग्रीवके जीवनका वृत्तान्त है॥ २३॥

शत्रून् हत्वा हतस्याजौ शूरस्याक्लिष्टकर्मणः।
असहायस्य संग्रामे निर्जितस्य युधिष्ठिर॥ २४॥

'हयग्रीव बड़े शूरवीर और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले थे। युधिष्ठिर! उन्होंने युद्धमें शत्रुओंको मार गिराया था; परंतु पीछे असहाय हो जानेपर वे संग्राममें परास्त हुए और शत्रुओंके हाथसे मारे गये॥ २४॥

यत् कर्म वै निग्रहे शात्रवाणां
योगश्चाग्र्यः पालने मानवानाम्।
कृत्वा कर्म प्राप्य कीर्तिं स युद्धाद्
वाजिग्रीवो मोदते स्वर्गलोके॥ २५॥

'उन्होंने शत्रुओंको परास्त करनेमें जो पराक्रम दिखाया था, मानवीय प्रजाके पालनमें जिस श्रेष्ठ उद्योग एवं एकाग्रताका परिचय दिया था, वह अद्भुत था। उन्होंने पुरुषार्थ करके युद्धसे उत्तम कीर्ति पायी और इस समय वे राजा हयग्रीव स्वर्गलोकमें आनन्द भोग रहे हैं॥ २५॥

संयुक्तात्मा समरेष्वाततायी
शस्त्रैश्छिन्नो दस्युभिर्वध्यमानः।
अश्वग्रीवः कर्मशीलो महात्मा
संसिद्धार्थो मोदते स्वर्गलोके॥ २६॥

'वे अपने मनको वशमें करके समरांगणमें हथियार लेकर शत्रुओंका वध कर रहे थे; परंतु डाकुओंने उन्हें अस्त्र-शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न करके मार डाला। इस समय कर्मपरायण महामनस्वी हयग्रीव पूर्णमनोरथ होकर स्वर्गलोकमें आनन्द कर रहे हैं॥ २६॥

धनुर्यूपो रशना ज्या शरः स्रुक्
स्रुवः खड्गो रुधिरं यत्र चाज्यम्।
रथो वेदी कामगो युद्धमग्नि-
श्चातुर्होत्रं चतुरो वाजिमुख्याः॥ २७॥
हुत्वा तस्मिन् यज्ञवह्नावथारीन्
पापान्मुक्तो राजसिंहस्तरस्वी।
प्राणान् हुत्वा चावभृथे रणे स
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके॥ २८॥

'उनका धनुष ही यूप था, करधनी प्रत्यञ्चाके समान थी, बाण स्रुक् और तलवार स्रुवाका काम दे रही थी, रक्त ही घृतके तुल्य था, इच्छानुसार विचरनेवाला रथ ही वेदी था, युद्ध अग्नि था और चारों प्रधान घोड़े ही ब्रह्मा आदि चारों ऋत्विज् थे। इस प्रकार वे वेगशाली राजसिंह हयग्रीव उस यज्ञरूपी अग्निमें शत्रुओंकी आहुति देकर पापसे मुक्त हो गये तथा अपने प्राणोंको होमकर युद्धकी समाप्तिरूपी अवभृथ-स्नान करके वे इस समय देवलोकमें आनन्दित हो रहे हैं॥ २७-२८॥

राष्ट्रं रक्षन् बुद्धिपूर्वं नयेन
संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा।
सर्वाँल्लोकान् व्याप्य कीर्त्या मनस्वी
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके॥ २९॥

'यज्ञ करना उन महामना नरेशका स्वभाव बन गया था। वे नीतिके द्वारा बुद्धिपूर्वक राष्ट्रकी रक्षा करते हुए शरीरका परित्याग करके मनस्वी हयग्रीव सम्पूर्ण जगत्में अपनी कीर्ति फैलाकर इस समय देवलोकमें आनन्दित हो रहे हैं॥ २९॥

दैवीं सिद्धिं मानुषीं दण्डनीतिं
योगन्यासैः पालयित्वा महीं च।
तस्माद् राजा धर्मशीलो महात्मा
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके॥ ३०॥

'योग (कर्मविषयक उत्साह) और न्यास (अहंकार आदिके त्याग) सहित दैवी सिद्धि, मानुषी सिद्धि, दण्डनीति तथा पृथ्वीका पालन करके धर्मशील महात्मा राजा हयग्रीव उसीके पुण्यसे इस समय देवलोकमें सुख भोगते हैं॥ ३०॥

विद्वांस्त्यागी श्रद्दधानः कृतज्ञ-
स्त्यक्त्वा लोकं मानुषं कर्म कृत्वा।
मेधाविनां विदुषां सम्मतानां
तनुत्यजां लोकमाक्रम्य राजा॥ ३१॥

'वे विद्वान्, त्यागी, श्रद्धालु और कृतज्ञ राजा हयग्रीव अपने कर्तव्यका पालन करके मनुष्यलोकको त्यागकर मेधावी, सर्वसम्मानित, ज्ञानी एवं पुण्य तीर्थोंमें शरीरका त्याग करनेवाले पुण्यात्माओंके लोकमें जाकर स्थित हुए हैं॥ ३१॥

सम्यग् वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य
सम्यग् राज्यं पालयित्वा महात्मा।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके॥ ३२॥

'वेदोंका ज्ञान पाकर, शास्त्रोंका अध्ययन करके, राज्यका अच्छी तरह पालन करते हुए महामना राजा हयग्रीव चारों वर्णोंके लोगोंको अपने-अपने धर्ममें स्थापित करके इस समय देवलोकमें आनन्द भोग रहे हैं॥ ३२॥

जित्वा संग्रामान् पालयित्वा प्रजाश्च
सोमं पीत्वा तर्पयित्वा द्विजाग्र्यान्।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां
युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके॥ ३३॥

'राजा हयग्रीव अनेकों युद्ध जीतकर, प्रजाका पालन करके, यज्ञोंमें सोमरस पीकर, श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दक्षिणा आदिसे तृप्त करके युक्तिसे प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये दण्ड धारण करते हुए युद्धमें मारे गये और अब देवलोकमें सुख भोगते हैं॥ ३३॥

वृत्तं यस्य श्लाघनीयं मनुष्याः
सन्तो विद्वांसोऽर्हयन्त्यर्हणीयम्।
स्वर्गं जित्वा वीरलोकानवाप्य
सिद्धिं प्राप्तः पुण्यकीर्तिर्महात्मा॥ ३४॥

'साधु एवं विद्वान् पुरुष उनके स्पृहणीय एवं आदरणीय चरित्रकी सदा भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। पुण्यकीर्ति महामना हयग्रीवने स्वर्गलोक जीतकर वीरोंको मिलनेवाले लोकोंमें पहुँचकर उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली'॥ ३४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९ श्लोक मिलाकर कुल ४३ श्लोक हैं।)

पञ्चविंशोऽध्यायः

सेनजित्के उपदेशयुक्त उद्गारोंका उल्लेख करके व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

द्वैपायनवचः श्रुत्वा कुपिते च धनंजये।
व्यासमामन्त्र्य कौन्तेयः प्रत्युवाच युधिष्ठिरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीकी बात सुनकर और अर्जुनके कुपित हो जानेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने व्यासजीको आमन्त्रित करके उत्तर देना आरम्भ किया॥ १॥

युधिष्ठिर उवाच

न पार्थिवमिदं राज्यं न भोगाश्च पृथग्विधाः।
प्रीणयन्ति मनो मेऽद्य शोको मां रुन्धयत्ययम्॥ २॥

युधिष्ठिर बोले—मुने! यह भूतलका राज्य और ये भिन्न-भिन्न प्रकारके भोग आज मेरे मनको प्रसन्न नहीं कर रहे हैं। यह शोक मुझे चारों ओरसे घेरे हुए है॥ २॥

श्रुत्वा वीरविहीनानामपुत्राणां च योषिताम्।
परिदेवयमानानां शान्तिं नोपलभे मुने॥ ३॥

महर्षे! पति और पुत्रोंसे हीन हुई युवतियोंका करुण विलाप सुनकर मुझे शान्ति नहीं मिल रही है॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो योगविदां वरः।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञो धर्मज्ञो वेदपारगः॥ ४॥

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर योगवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और वेदोंके पारंगत विद्वान् धर्मज्ञ महाज्ञानी व्यासने उनसे फिर इस प्रकार कहा॥ ४॥

व्यास उवाच

न कर्मणा लभ्यते चिन्तया वा
नाप्यस्ति दाता पुरुषस्य कश्चित्।
पर्याययोगाद् विहितं विधात्रा
कालेन सर्वं लभते मनुष्यः॥ ५॥

व्यासजी बोले—राजन्! न तो कोई कर्म करनेसे नष्ट हुई वस्तु मिल सकती है, न चिन्तासे ही। कोई ऐसा दाता भी नहीं है, जो मनुष्यको उसकी विनष्ट वस्तु दे दे। बारी-बारीसे विधाताके विधानानुसार मनुष्य समयपर सब कुछ पा लेता है॥ ५॥

न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं
प्राप्तुं विशेषं मनुजैरकाले।
मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थान्
कालो हि कार्यं प्रति निर्विशेषः॥ ६॥

बुद्धि अथवा शास्त्राध्ययनसे भी मनुष्य असमयमें किसी विशेष वस्तुको नहीं पा सकता और समय आनेपर कभी-कभी मूर्ख भी अभीष्ट पदार्थोंको प्राप्त कर लेता है; अतः काल ही कार्यकी सिद्धिमें सामान्य कारण है॥ ६॥

नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति
शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि।
तान्येव कालेन समाहितानि
सिद्ध्यन्ति वर्धन्ति च भूतिकाले॥ ७॥

अवनतिके समय शिल्पकलाएँ, मन्त्र तथा औषध भी कोई फल नहीं देते हैं। वे ही जब उन्नतिके समय उपयोगमें लाये जाते हैं, तब कालकी प्रेरणासे सफल होते और वृद्धिमें सहायक बनते हैं॥ ७॥

कालेन शीघ्राः प्रवहन्ति वाताः
कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति।
कालेन पद्मोत्पलवज्जलं च
कालेन पुष्यन्ति वनेषु वृक्षाः॥ ८॥

समयसे ही तेज हवा चलती है, समयसे ही मेघ जल बरसाते हैं, समयसे ही पानीमें कमल तथा उत्पल उत्पन्न हो जाते हैं और समयसे ही वनमें वृक्ष पुष्ट होते हैं॥ ८॥

कालेन कृष्णाश्च सिताश्च रात्र्यः
कालेन चन्द्रः परिपूर्णबिम्बः।
नाकालतः पुष्पफलं द्रुमाणां
नाकालवेगाः सरितो वहन्ति॥ ९॥

समयसे ही अँधेरी और उजेली रातें होती हैं, समयसे ही चन्द्रमाका मण्डल परिपूर्ण होता है, असमयमें वृक्षोंमें फल और फूल भी नहीं लगते हैं और न असमयमें नदियाँ ही वेगसे बहती हैं॥ ९॥

नाकालमत्ताः खगपन्नगाश्च
मृगद्विपाः शैलमृगाश्च लोके।
नाकालतः स्त्रीषु भवन्ति गर्भा
नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षाः॥ १०॥

लोकमें पक्षी, सर्प, जंगली मृग, हाथी और पहाड़ी मृग भी समय आये बिना मतवाले नहीं होते हैं। असमयमें स्त्रियोंके गर्भ नहीं रहते और बिना समयके सर्दी, गर्मी तथा वर्षा भी नहीं होती है॥ १०॥

नाकालतो म्रियते जायते वा
नाकालतो व्याहरते च बालः।
नाकालतो यौवनमभ्युपैति
नाकालतो रोहति बीजमुप्तम्॥ ११॥

बालक समय आये बिना न जन्म लेता है, न मरता है और न असमयमें बोलता ही है। बिना समयके जवानी नहीं आती और बिना समयके बोया हुआ बीज भी नहीं उगता है॥ ११॥

नाकालतो भानुरुपैति योगं
नाकालतोऽस्तंगिरिमभ्युपैति।
नाकालतो वर्धते हीयते च
चन्द्रः समुद्रोऽपि महोर्मिमाली॥ १२॥

असमयमें सूर्य उदयाचलसे संयुक्त नहीं होते हैं, समय आये बिना वे अस्ताचलपर भी नहीं जाते हैं, असमयमें न तो चन्द्रमा घटते-बढ़ते हैं और न समुद्रमें ही ऊँची-ऊँची तरंगें उठती हैं॥ १२॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं राज्ञा सेनजिता दुःखार्तेन युधिष्ठिर॥ १३॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। एक समय शोकसे आतुर हुए राजा सेनजित्‌ने जो उद्गार प्रकट किया था, वही तुम्हें सुना रहा हूँ॥ १३॥

सर्वानेवैष पर्यायो मर्त्यान् स्पृशति दुःसहः।
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः॥ १४॥

(राजा सेनजित्‌ने मन-ही-मन कहा कि) 'यह दुःसह कालचक्र सभी मनुष्योंपर अपना प्रभाव डालता है। एक दिन सभी भूपाल कालसे परिपक्व होकर मृत्युके अधीन हो जाते हैं॥ १४॥

घ्नन्ति चान्यान् नरा राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः।
संज्ञैषा लौकिकी राजन् न हिनस्ति न हन्यते॥ १५॥

'राजन्! मनुष्य दूसरोंको मारते हैं, फिर उन्हें भी दूसरे लोग मार देते हैं। नरेश्वर! यह मरना-मारना लौकिक संज्ञामात्र है। वास्तवमें न कोई मारता है और न मारा ही जाता है॥ १५॥

हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरः।
स्वभावतस्तु नियतौ भूतानां प्रभवाप्ययौ॥ १६॥

'एक मानता है कि आत्मा मारता है।' दूसरा ऐसा मानता है कि 'नहीं मारता है।' पाञ्चभौतिक शरीरोंके जन्म और मरण स्वभावतः नियत हैं॥ १६॥

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायन् दुःखस्यापचितिं चरेत्॥ १७॥

'धनके नष्ट होनेपर अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु होनेपर मनुष्य 'हाय! मुझपर बड़ा भारी दुःख आ पड़ा' इस प्रकार चिन्ता करते हुए उस दुःखकी निवृत्तिकी चेष्टा करता है॥ १७॥

स किं शोचसि मूढः सन् शोच्यान् किमनुशोचसि।
पश्य दुःखेषु दुःखानि भयेषु च भयान्यपि॥ १८॥

'तुम मूढ़ बनकर शोक क्यों कर रहे हो? उन मरे हुए शोचनीय व्यक्तियोंका बारंबार स्मरण ही क्यों करते हो? देखो, शोक करनेसे दुःखमें दुःख तथा भयमें भयकी वृद्धि होगी॥ १८॥

आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम।
यथा मम तथान्येषामिति पश्यन् न मुह्यति॥ १९॥

'यह शरीर भी अपना नहीं है और सारी पृथ्वी

भी अपनी नहीं है। यह जिस तरहसे मेरी है, उसी तरह दूसरोंकी भी है। ऐसी दृष्टि रखनेवाला पुरुष कभी मोहमें नहीं फँसता है॥ १९॥

शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥ २०॥

'शोकके सहस्रों स्थान हैं, हर्षके भी सैकड़ों अवसर हैं। वे प्रतिदिन मूढ़ मनुष्यपर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वान्पर नहीं॥ २०॥

एवमेतानि कालेन प्रियद्वेष्याणि भागशः।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥ २१॥

इस प्रकार ये प्रिय और अप्रिय भाव ही दुःख और सुख बनकर अलग-अलग सभी जीवोंको प्राप्त होते रहते हैं॥ २१॥

दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात् तदुपलभ्यते।
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम्॥ २२॥

'संसारमें केवल दुःख ही है, सुख नहीं, अतः दुःख ही उपलब्ध होता है। तृष्णाजनित पीड़ासे दुःख और दुःखकी पीड़ासे सुख होता है अर्थात् दुःखसे आर्त हुए मनुष्यको ही उसके न रहनेपर सुखकी प्रतीति होती है॥ २२॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम्॥ २३॥

'सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है। कोई भी न तो सदा दुःख पाता है और न निरन्तर सुख ही प्राप्त करता है॥ २३॥

सुखमेव हि दुःखान्तं कदाचिद् दुःखतः सुखम्।
तस्मादेतद् द्वयं जह्याद् य इच्छेच्छाश्वतं सुखम्॥ २४॥
सुखान्तप्रभवं दुःखं दुःखान्तप्रभवं सुखम्।

'कभी दुःखके अन्तमें सुख और कभी सुखके अन्तमें दुःख भी आता है; अतः जो नित्य सुखकी इच्छा रखता हो, वह इन दोनोंका परित्याग कर दे; क्योंकि दुःख सुखके अन्तमें अवश्यम्भावी है, वैसे ही सुख भी दुःखके अन्तमें अवश्यम्भावी है॥ २४½॥

यन्निमित्तो भवेच्छोकस्तापो वा भृशदारुणः॥ २५॥
आयासो वापि यन्मूलस्तदेकाङ्गमपि त्यजेत्।

'जिसके कारण शोक और बढ़ा हुआ ताप होता हो अथवा जो आयासका भी मूल कारण हो, वह अपने शरीरका एक अंग भी हो तो भी उसको त्याग देना चाहिये॥

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥ २६॥

'सुख हो या दुःख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जब जो कुछ प्राप्त हो, उस समय उसे सहर्ष अपनावे। अपने हृदयसे उसके सामने पराजय न स्वीकार करे (हिम्मत न हारे)॥ २६॥

ईषदप्यङ्ग दाराणां पुत्राणां वा चराप्रियम्।
ततो ज्ञास्यसि कः कस्य केन वा कथमेव च॥ २७॥

'प्रिय मित्र! स्त्री अथवा पुत्रोंका थोड़ा-सा भी अप्रिय कर दो, फिर स्वयं समझ जाओगे कि कौन किस हेतुसे किस तरह किसके साथ कितना सम्बन्ध रखता है?॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः।
त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः॥ २८॥

'संसारमें जो अत्यन्त मूर्ख हैं, अथवा जो बुद्धिसे परे पहुँच गये हैं, वे ही सुखी होते हैं; बीचवाले लोग कष्ट ही उठाते हैं'॥ २८॥

इत्यब्रवीन्महाप्राज्ञो युधिष्ठिर स सेनजित्।
परावरज्ञो लोकस्य धर्मवित् सुखदुःखवित्॥ २९॥

युधिष्ठिर! लोकके भूत और भविष्य तथा सुख एवं दुःखको जाननेवाले धर्मवेत्ता महाज्ञानी सेनजित्ने ऐसा ही कहा है॥ २९॥

येन दुःखेन यो दुःखी न स जातु सुखी भवेत्।
दुःखानां हि क्षयो नास्ति जायते ह्यपरात् परम्॥ ३०॥

जिस किसी भी दुःखसे जो दुखी है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि दुःखोंका अन्त नहीं है। एक दुःखसे दूसरा दुःख होता ही रहता है॥ ३०॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति
तस्माद् धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत्॥ ३१॥

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समयपर क्रमसे सबको प्राप्त होते हैं; इसलिये धीर पुरुष इनके लिये हर्ष और शोक न करे॥ ३१॥

दीक्षां राज्ञः संयुगे युद्धमाहु-
र्योगं राज्ये दण्डनीत्यां च सम्यक्।
वित्तत्यागो दक्षिणानां च यज्ञे
सम्यग् दानं पावनानीति विद्यात्॥ ३२॥

राजाके लिये संग्राममें जूझना ही यज्ञकी दीक्षा लेना बताया गया है। राज्यकी रक्षा करते हुए दण्डनीतिमें भलीभाँति प्रतिष्ठित होना ही उसके लिये योगसाधन है तथा यज्ञमें दक्षिणारूपसे धनका त्याग एवं उत्तम रीतिसे दान ही राजाके लिये त्याग है। ये तीनों कर्म राजाको पवित्र करनेवाले हैं, ऐसा समझे॥ ३२॥

रक्षन् राज्यं बुद्धिपूर्वं नयेन
संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा।
सर्वाँल्लोकान् धर्मदृष्ट्या चरंश्चा-
प्यूर्ध्वं देहान्मोदते देवलोके॥ ३३॥

जो राजा अहंकार छोड़कर बुद्धिमानीसे नीतिके अनुसार राज्यकी रक्षा करता है, स्वभावसे ही यज्ञके अनुष्ठानमें लगा रहता है और धर्मकी रक्षाको दृष्टिमें रखकर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरता है, वह महामनस्वी नरेश देहत्यागके पश्चात् देवलोकमें आनन्द भोगता है॥

जित्वा संग्रामान् पालयित्वा च राष्ट्रं
सोमं पीत्वा वर्धयित्वा प्रजाश्च।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां
युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके॥ ३४॥

जो संग्राममें विजय, राष्ट्रका पालन, यज्ञमें सोमरसका पान, प्रजाओंकी उन्नति तथा प्रजावर्गके हितके लिये युक्तिपूर्वक दण्डधारण करते हुए युद्धमें मृत्युको प्राप्त होता है, वह देवलोकमें आनन्दका भागी होता है॥ ३४॥

सम्यग् वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य
सम्यग् राज्यं पालयित्वा च राजा।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे
पूतात्मा वै मोदते देवलोके॥ ३५॥

सम्यक् प्रकारसे वेदोंका ज्ञान, शास्त्रोंका अध्ययन, राज्यका ठीक-ठीक पालन तथा चारों वर्णोंका अपने-अपने धर्ममें स्थापन करके जो अपने मनको पवित्र कर चुका है, वह राजा देवलोकमें सुखी होता है॥ ३५॥

यस्य वृत्तं नमस्यन्ति स्वर्गस्थस्यापि मानवाः।
पौरजानपदामात्याः स राजा राजसत्तमः॥ ३६॥

स्वर्गलोकमें रहनेपर भी जिसके चरित्रको नगर और जनपदके मनुष्य एवं मन्त्री मस्तक झुकाते हैं, वही राजा समस्त नरपतियोंमें सबसे श्रेष्ठ है॥ ३६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनजिदुपाख्याने पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सेनजित्का उपाख्यानविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५॥

षड्विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा धनके त्यागकी ही महत्ताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेव प्रकरणे धनंजयमुदारधीः।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय। इसी प्रसंगमें उदारबुद्धि राजा युधिष्ठिरने अर्जुनसे यह युक्तियुक्त बात कही॥ १॥

यदेतन्मन्यसे पार्थ न न्यायोऽस्ति धनादिति।
न स्वर्गो न सुखं नार्थो निर्धनस्येति तन्मृषा॥ २॥

'पार्थ! तुम जो यह समझते हो कि धनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है तथा निर्धनको स्वर्ग, सुख और अर्थकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह ठीक नहीं है॥ २॥

स्वाध्याययज्ञसंसिद्धा दृश्यन्ते बहवो जनाः।
तपोरताश्च मुनयो येषां लोकाः सनातनाः॥ ३॥

'बहुत-से मनुष्य केवल स्वाध्याययज्ञ करके सिद्धिको प्राप्त हुए देखे जाते हैं। तपस्यामें लगे हुए बहुतेरे मुनि ऐसे हो गये हैं, जिन्हें सनातन लोकोंकी प्राप्ति हुई है॥ ३॥

ऋषीणां समयं शश्वद् ये रक्षन्ति धनंजय।
आश्रिताः सर्वधर्मज्ञा देवास्तान् ब्राह्मणान् विदुः॥ ४॥

'धनंजय! सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले जो लोग ब्रह्मचर्य-आश्रममें स्थित हो ऋषियोंकी स्वाध्याय-परम्पराकी सदैव रक्षा करते हैं, देवता उन्हें ही ब्राह्मण मानते हैं॥

स्वाध्यायनिष्ठान् हि ऋषीन् ज्ञाननिष्ठांस्तथापरान्।
बुद्ध्येथाः संततं चापि धर्मनिष्ठान् धनंजय॥ ५॥

'अर्जुन! तुम्हें सदा यह समझना चाहिये कि ऋषियोंमेंसे कुछ लोग वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें ही तत्पर रहते हैं, कुछ ज्ञानोपार्जनमें संलग्न होते हैं और कुछ लोग धर्म-पालनमें ही निष्ठा रखते हैं॥ ५॥

ज्ञाननिष्ठेषु कार्याणि प्रतिष्ठाप्यानि पाण्डव।
वैखानसानां वचनं यथा नो विदितं प्रभो॥ ६॥

'पाण्डुनन्दन! प्रभो! वानप्रस्थोंके वचनको जैसा हमने समझा है, उसके अनुसार ज्ञाननिष्ठ महात्माओंको ही राज्यके सारे कार्य सौंपने चाहिये॥ ६॥

अजाश्च पृश्नयश्चैव सिकताश्चैव भारत।
अरुणाः केतवश्चैव स्वाध्यायेन दिवं गताः॥ ७॥

'भारत! अज, पृश्नि, सिकत, अरुण और केतु नामवाले ऋषिगणोंने तो स्वाध्यायके द्वारा ही स्वर्ग प्राप्त कर लिया था॥ ७॥

अवाप्यैतानि कर्माणि वेदोक्तानि धनंजय।
दानमध्ययनं यज्ञो निग्रहश्चैव दुर्ग्रहः॥ ८॥
दक्षिणेन च पन्थानमर्यम्णो ये दिवं गताः।
एतान् क्रियावतां लोकानुक्तवान् पूर्वमप्यहम्॥ ९॥

'धनंजय! दान, अध्ययन, यज्ञ और निग्रह—ये सभी कर्म बहुत कठिन हैं। इन वेदोक्त कर्मोंका (सकामभावसे) आश्रय लेकर लोग सूर्यके दक्षिण मार्गसे स्वर्गमें जाते हैं। इन कर्ममार्गी पुरुषोंके लोकोंकी चर्चा मैं पहले भी कर चुका हूँ॥ ८-९॥

उत्तरेण तु पन्थानं नियमाद् यं प्रपश्यसि।
एते यागवतां लोका भान्ति पार्थ सनातनाः॥ १०॥

'कुन्तीनन्दन! सूर्यके उत्तरमें स्थित जो मार्ग है, जिसे तुम नियमके प्रभावसे देख रहे हो, वहाँ जो ये सनातन लोक प्रकाशित होते हैं, वे निष्काम यज्ञ करनेवालोंको प्राप्त होते हैं॥ १०॥

तत्रोत्तरां गतिं पार्थ प्रशंसन्ति पुराविदः।
संतोषो वै स्वर्गतमः संतोषः परमं सुखम्॥ ११॥

'पार्थ! प्राचीन इतिहासको जाननेवाले लोग इन दोनों मार्गोंमेंसे उत्तर मार्गकी प्रशंसा करते हैं। वास्तवमें संतोष ही सबसे बढ़कर स्वर्ग है और संतोष ही सबसे बड़ा सुख है॥ ११॥

तुष्टेर्न किञ्चित् परमं सा सम्यक् प्रतितिष्ठति।
विनीतक्रोधहर्षस्य सततं सिद्धिरुत्तमा॥ १२॥

'संतोषसे बढ़कर कुछ नहीं है। जिसने क्रोध और हर्षको जीत लिया है, उसीके हृदयमें उस परम वैराग्यरूप संतोषकी सम्यक् प्रतिष्ठा होती है और उसे ही सदा उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है॥ १२॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा गीता ययातिना।
याभिः प्रत्याहरेत् कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः॥ १३॥

इस प्रसंगमें लोग राजा ययातिकी गायी हुई इन गाथाओंको उदाहरणके तौरपर कहा करते हैं। जिनके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको उसी प्रकार समेट लेता है, जैसे कछुआ अपने अंगोंको सब ओरसे सिकोड़ लिया करता है॥ १३॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ १४॥

राजा ययातिने कहा था—'जब यह पुरुष किसीसे नहीं डरता, जब इससे भी किसीको भय नहीं रहता तथा जब यह न तो किसीको चाहता है और न उससे द्वेष ही रखता है, तब ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है॥ १४॥

यदा न भावं कुरुते सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ १५॥

"जब यह मन, वाणी और क्रियाद्वारा सम्पूर्ण भूतोंके प्रति पाप-बुद्धिका परित्याग कर देता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है॥ १५॥

विनीतमानमोहश्च बहुसङ्गविवर्जितः।
तदाऽऽत्मज्योतिषः साधोर्निर्वाणमुपपद्यते॥ १६॥

"जिसके मान और मोह दूर हो गये हैं, जो नाना प्रकारकी आसक्तियोंसे रहित है तथा जिसे आत्माका ज्ञान प्राप्त हो गया है, उस साधु पुरुषको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है'॥ १६॥

इदं तु शृणु मे पार्थ ब्रुवतः संयतेन्द्रियः।
धर्ममन्ये वृत्तमन्ये धनमीहन्ति चापरे॥ १७॥

'कुन्तीनन्दन! मैं जो बात कह रहा हूँ, उसे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको संयममें रखकर सुनो! कुछ लोग धर्मकी, कोई सदाचारकी और दूसरे कितने ही मनुष्य धनकी प्राप्तिके लिये सचेष्ट रहते हैं॥ १७॥

धनहेतोर्य ईहेत तस्यानीहा गरीयसी।
भूयान् दोषो हि वित्तस्य यश्च धर्मस्तदाश्रयः॥ १८॥

'जो धनके लिये चेष्टा करता है, उसका निश्चेष्ट होकर बैठ रहना ही ठीक है, क्योंकि धन और उसके आश्रित धर्ममें महान् दोष दिखायी देता है॥ १८॥

प्रत्यक्षमनुपश्यामि त्वमपि द्रष्टुमर्हसि।
वर्जनं वर्जनीयानामीहमानेन दुष्करम्॥ १९॥

'मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ और तुम भी देख सकते हो, जो लोग धनोपार्जनके प्रयत्नमें लगे हुए हैं, उनके लिये त्याज्य कर्मोंको छोड़ना अत्यन्त कठिन हो रहा है॥

ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम्।
द्रुह्यतः प्रैति तत् प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम्॥ २०॥

'जो धनके पीछे पड़े हुए हैं, उनमें साधुता दुर्लभ है; क्योंकि जो लोग दूसरोंसे द्रोह करते हैं, उन्हींको धन प्राप्त होता है, ऐसा कहा जाता है तथा वह मिला हुआ धन प्रकारान्तरसे प्रतिकूल ही होता है॥ २०॥

यस्तु सम्भिन्नवृत्तः स्याद् वीतशोकभयो नरः।
अल्पेन तृषितो द्रुह्यन् भ्रूणहत्यां न बुध्यते॥ २१॥

'शोक और भयसे रहित होनेपर भी जो मनुष्य सदाचारसे भ्रष्ट है, उसे यदि धनकी थोड़ी-सी भी तृष्णा हो तो वह दूसरोंसे ऐसा द्रोह करता है कि भ्रूण-हत्या-जैसे पापका भी ध्यान नहीं रखता॥ २१॥

दुष्यन्त्याददतो भृत्या नित्यं दस्युभयादिव।
दुर्लभं च धनं प्राप्य भृशं दत्त्वानुतप्यते॥ २२॥

'अपना वेतन यथासमय पाते हुए भी जब भृत्योंको संतोष नहीं होता, तब वे स्वामीसे अप्रसन्न रहते हैं और वह धनी दुर्लभ धनको पाकर यदि सेवकोंको अधिक देता है तो उसे उतना ही अधिक संताप होता है, जितना चोर-डाकुओंसे भयके कारण हुआ करता है॥ २२॥

अधनः कस्य किं वाच्यो विमुक्तः सर्वशः सुखी।
देवस्वमुपगृह्यैव धनेन न सुखी भवेत्॥ २३॥

'निर्धनको कौन क्या कह सकता है? वह सब प्रकारके भयसे मुक्त हो सुखी रहता है। देवताओंकी सम्पत्ति लेकर भी कोई धनसे सुखी नहीं हो सकता॥ २३॥

अत्र गाथां यज्ञगीतां कीर्तयन्ति पुराविदः।
त्रयीमुपाश्रितां लोके यज्ञसंस्तरकारिकाम्॥ २४॥

'इस विषयमें यज्ञमें ऋत्विजोंद्वारा गायी हुई एक गाथा है जो तीनों वेदोंके आश्रित है, वह गाथा लोकमें यज्ञकी प्रतिष्ठा करनेवाली है। पुरानी बातोंको जाननेवाले लोग उसे ऐसे अवसरोंपर दुहराया करते हैं॥ २४॥

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
यज्ञाय सृष्टः पुरुषो रक्षिता च।
तस्मात् सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं
धनं न कामाय हितं प्रशस्तम्॥ २५॥

'विधाताने यज्ञके लिये ही धनकी सृष्टि की है और यज्ञके लिये उसकी रक्षा करनेके निमित्त पुरुषको उत्पन्न किया है; इसलिये सारे धनका यज्ञ-कार्यमें ही उपयोग करना चाहिये। भोगके लिये धनका उपयोग न तो हितकर है और न उत्तम ही॥ २५॥

एतत् स्वार्थे च कौन्तेय धनं धनवतां वर।
धाता ददाति मर्त्येभ्यो यज्ञार्थमिति विद्धि तत्॥ २६॥

'धनवानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार धनंजय! विधाता मनुष्योंको स्वार्थके लिये भी जो धन देते हैं उसे यज्ञार्थ ही समझो॥ २६॥

तस्माद् बुद्ध्यन्ति पुरुषा न हि तत् कस्यचिद् ध्रुवम्।
श्रद्दधानस्ततो लोको दद्याच्चैव यजेत च॥ २७॥

'इसीलिये बुद्धिमान् पुरुष यह समझते हैं कि धन कभी किसी एकके पास स्थिर होकर नहीं रहता; अतः श्रद्धालु मनुष्यको चाहिये कि वह उस धनका दान करे और उसे यज्ञमें लगावे॥ २७॥

लब्धस्य त्यागमित्याहुर्न भोगं न च संचयम्।
तस्य किं संचयेनार्थः कार्ये ज्यायसि तिष्ठति॥ २८॥

'प्राप्त किये हुए धनका दान करना ही उचित बताया गया है। उसे भोगमें लगाना या संग्रह करके रखना ठीक नहीं है। जिसके सामने बहुत बड़ा कार्य यज्ञ आदि मौजूद है, उसे धनको संग्रह करके रखनेकी क्या आवश्यकता है?॥ २८॥

ये स्वधर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः॥ २९॥

'जो मन्दबुद्धि मानव अपने धर्मसे गिरे हुए मनुष्योंको धन देते हैं, वे मरनेके बाद सौ वर्षोंतक विष्ठा भोजन करते हैं॥ २९॥

अनर्हते यद् ददाति न ददाति यदर्हते।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद् दानधर्मोऽपि दुष्करः॥ ३०॥

'लोग अधिकारीको धन नहीं देते और अनधिकारीको दे डालते हैं, योग्य-अयोग्य पात्रका ज्ञान न होनेसे दानधर्मका सम्पादन भी बहुत कठिन है॥ ३०॥

लब्धानामपि वित्तानां बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम्॥ ३१॥

'प्राप्त हुए धनका उपयोग करनेमें दो प्रकारकी भूलें हुआ करती हैं, जिन्हें ध्यानमें रखना चाहिये। पहली भूल है अपात्रको धन देना और दूसरी है सुपात्रको धन न देना'॥ ३१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरको शोकवश शरीर त्याग देनेके लिये उद्यत देख व्यासजीका उन्हें उससे निवारण करके समझाना

युधिष्ठिर उवाच

अभिमन्यौ हते बाले द्रौपद्यास्तनयेषु च।
धृष्टद्युम्ने विराटे च द्रुपदे च महीपतौ॥ १॥
वृषसेने च धर्मज्ञे धृष्टकेतौ तु पार्थिवे।
तथान्येषु नरेन्द्रेषु नानादेश्येषु संयुगे॥ २॥
न च मुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम्।
राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशोच्छेदकारिणम्॥ ३॥

युधिष्ठिरने व्यासजीसे कहा—मुनिश्रेष्ठ! इस युद्धमें

बालक अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, धृष्टद्युम्न, विराट, राजा द्रुपद, धर्मज्ञ वृषसेन, चेदिराज धृष्टकेतु तथा नाना देशोंके निवासी अन्यान्य नरेश भी वीरगतिको प्राप्त हुए हैं। मैं जाति-भाइयोंका घातक, राज्यका लोभी, अत्यन्त क्रूर और अपने वंशका विनाश करनेवाला निकला, यही सब सोचकर मुझे शोक नहीं छोड़ रहा है और मैं अत्यन्त आतुर हो रहा हूँ॥ १—३॥

यस्यांके क्रीडमानेन मया वै परिवर्तितम्।
स मया राज्यलुब्धेन गांगेयो युधि पातितः॥ ४॥

जिनकी गोदीमें खेलता हुआ मैं लोटपोट हो जाता था, उन्हीं पितामह गंगानन्दन भीष्मजीको मैंने राज्यके लोभसे मरवा डाला॥ ४॥

यदा ह्येनं विधूर्णन्तमपश्यं पार्थसायकैः।
कम्पमानं यथा वज्रैः प्रेक्ष्यमाणं शिखण्डिना॥ ५॥
जीर्णसिंहमिव प्रांशुं नरसिंहं पितामहम्।
कीर्यमाणं शरैर्दृष्ट्वा भृशं मे व्यथितं मनः॥ ६॥

जब मैंने देखा कि अर्जुनके वज्रोपम बाणोंसे आहत हो बूढ़े सिंहके समान मेरे उन्नतकाय पुरुषसिंह पितामह कम्पित हो रहे हैं और उन्हें चक्कर-सा आने लगा है, शिखण्डी उनकी ओर देख रहा है और उनका सारा शरीर बाणोंसे खचाखच भर गया है तो यह सब देखकर मेरे मनमें बड़ी व्यथा हुई॥ ५-६॥

प्राङ्मुखं सीदमानं च रथे पररथारुजम्।
घूर्णमानं यथा शैलं तदा मे कश्मलोऽभवत्॥ ७॥

जो शत्रुदलके रथियोंको पीड़ा देनेमें समर्थ थे, वे पूर्वकी ओर मुँह करके चुपचाप बैठे हुए बाणोंका आघात सह रहे थे और जैसे पर्वत हिल रहा हो, उसी प्रकार झूम रहे थे। उस समय उनकी यह अवस्था देखकर मुझे मूर्छा-सी आ गयी थी॥ ७॥

यः स बाणधनुष्पाणिर्योधयामास भार्गवम्।
बहून्यहानि कौरव्यः कुरुक्षेत्रे महामृधे॥ ८॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं वाराणस्यां नदीसुतः।
कन्यार्थमाह्वयद् वीरो रथेनैकेन संयुगे॥ ९॥
येन चोग्रायुधो राजा चक्रवर्ती दुरासदः।
दग्धश्चास्त्रप्रतापेन स मया युधि घातितः॥ १०॥

जिन कुरुकुलशिरोमणि वीरने कुरुक्षेत्रमें महायुद्ध ठानकर हाथमें धनुष-बाण लिये बहुत दिनोंतक परशुरामजीके साथ युद्ध किया था, जिन वीर गंगा-नन्दन भीष्मने वाराणसीपुरीमें काशिराजकी कन्याओंके लिये युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर एकमात्र रथके द्वारा वहाँ एकत्र हुए समस्त क्षत्रिय नरेशोंको ललकारा था तथा जिन्होंने दुर्जय चक्रवर्ती राजा उग्रायुधको अपने अस्त्रोंके प्रतापसे दग्ध कर दिया था, उन्हींको मैंने युद्धमें मरवा डाला॥ ८—१०॥

स्वयं मृत्युं रक्षमाणः पाञ्चाल्यं यः शिखण्डिनम्।
न बाणैः पातयामास सोऽर्जुनेन निपातितः॥ ११॥

जिन्होंने अपने लिये मृत्यु बनकर आये हुए पाञ्चाल राजकुमार शिखण्डीकी स्वयं ही रक्षा की और उसे बाणोंसे धराशायी नहीं किया, उन्हीं पितामहको अर्जुनने मार गिराया॥ ११॥

यदैनं पतितं भूमावपश्यं रुधिरोक्षितम्।
तदैवाविशदत्युग्रो ज्वरो मां मुनिसत्तम॥ १२॥

मुनिश्रेष्ठ! जब मैंने पितामहको खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा देखा, उसी समय मुझपर अत्यन्त भयंकर शोक-ज्वरका आवेश हो गया॥ १२॥

येन संवर्धिता बाला येन स्म परिरक्षिताः।
स मया राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना॥ १३॥
अल्पकालस्य राज्यस्य कृते मूढेन घातितः।

जिन्होंने हमें बचपनसे पाल-पोसकर बड़ा किया और सब प्रकारसे हमारी रक्षा की, उन्हींको मुझ पापी, राज्य-लोभी, गुरुघाती एवं मूर्खने थोड़े समयतक रहनेवाले राज्यके लिये मरवा डाला॥ १३½॥

आचार्यश्च महेष्वासः सर्वपार्थिवपूजितः॥ १४॥
अभिगम्य रणे मिथ्या पापेनोक्तः सुतं प्रति।

सम्पूर्ण राजाओंसे पूजित, महाधनुर्धर आचार्यके पास जाकर मुझ पापीने उनके पुत्रके सम्बन्धमें झूठी बात कही॥ १४½॥

तन्मे दहति गात्राणि यन्मां गुरुरभाषत॥ १५॥
सत्यमाख्याहि राजंस्त्वं यदि जीवति मे सुतः।
सत्यमामर्षयन् विप्रो मयि तत् परिपृष्टवान्॥ १६॥

उस समय गुरुने मुझसे पूछा था—'राजन्! सच बताओ, क्या मेरा पुत्र जीवित है?' उन ब्राह्मणने सत्यका निर्णय करनेके लिये ही मुझसे यह बात पूछी थी। उनकी वह बात जब याद आती है तो मेरा सारा शरीर शोकाग्निसे दग्ध होने लगता है॥ १५-१६॥

कुञ्जरं चान्तरं कृत्वा मिथ्योपचरितं मया।
सुभृशं राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना॥ १७॥

परंतु राज्यके लोभमें अत्यन्त फँसे हुए मुझ पापी गुरु-हत्यारेने मरे हुए हाथीकी आड़ लेकर उनसे झूठ बोल दिया और उनके साथ धोखा किया॥ १७॥

सत्यकञ्चुकमुन्मुच्य मया स गुरुराहवे।
अश्वत्थामा हत इति निरुक्तः कुञ्जरे हते॥ १८॥

मैंने सत्यका चोला उतार फेंका और युद्धमें अश्वत्थामा नामक हाथीके मारे जानेपर गुरुदेवसे कह दिया कि 'अश्वत्थामा मारा गया।' (इससे उन्हें अपने पुत्रके मारे जानेका विश्वास हो गया)॥ १८॥

काँल्लोकांस्तु गमिष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
अघातयं च यत् कर्णं समरेष्वपलायिनम्॥ १९॥
ज्येष्ठभ्रातरमत्युग्रं को मत्तः पापकृत्तमः।

यह अत्यन्त दुष्कर पापकर्म करके मैं किन लोकोंमें जाऊँगा? युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले अत्यन्त उग्र पराक्रमी अपने बड़े भाई कर्णको भी मैंने मरवा दिया—मुझसे बढ़कर महान् पापाचारी दूसरा कौन होगा?॥ १९½॥

अभिमन्युं च यद् बालं जातं सिंहमिवाद्रिषु॥ २०॥
प्रावेशयमहं लुब्धो वाहिनीं द्रोणपालिताम्।
तदाप्रभृति बीभत्सुं न शक्नोमि निरीक्षितुम्॥ २१॥
कृष्णं च पुण्डरीकाक्षं किल्बिषी भ्रूणहा यथा।

मैंने राज्यके लोभमें पड़कर जब पर्वतोंपर उत्पन्न हुए सिंहके समान पराक्रमी अभिमन्युको द्रोणाचार्यद्वारा सुरक्षित कौरवसेनामें झोंक दिया, तभीसे भ्रूण-हत्या करनेवाले पापीके समान मैं अर्जुन तथा कमलनयन श्रीकृष्णकी ओर आँख उठाकर देख नहीं पाता हूँ॥

द्रौपदीं चापि दुःखार्तां पञ्चपुत्रैर्विनाकृताम्॥ २२॥
शोचामि पृथिवीं हीनां पञ्चभिः पर्वतैरिव।

जैसे पृथ्वी पाँच पर्वतोंसे हीन हो जाय, उसी प्रकार अपने पाँचों पुत्रोंसे हीन होकर दुःखसे आतुर हुई द्रौपदीके लिये भी मुझे निरन्तर शोक बना रहता है॥

सोऽहमागस्करः पापः पृथिवीनाशकारकः॥ २३॥
आसीन एवमेवेदं शोषयिष्ये कलेवरम्।

अतः मैं पापी, अपराधी तथा सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश करनेवाला हूँ; इसलिये यहीं इसी रूपमें बैठा हुआ अपने इस शरीरको सुखा डालूँगा॥ २३½॥

प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम्॥ २४॥
जातिष्वन्यास्वपि यथा न भवेयं कुलान्तकृत्।

आपलोग मुझ गुरुघातीको आमरण अनशनके लिये बैठा हुआ समझें, जिससे दूसरे जन्मोंमें मैं फिर अपने कुलका विनाश करनेवाला न होऊँ॥ २४½॥

न भोक्ष्ये न च पानीयमुपभोक्ष्ये कथञ्चन॥ २५॥
शोषयिष्ये प्रियान् प्राणानिहस्थोऽहं तपोधनाः।

तपोधनो! अब मैं किसी तरह न तो अन्न खाऊँगा और न पानी ही पीऊँगा। यहीं रहकर अपने प्यारे प्राणोंको सुखा दूँगा॥ २५½॥

यथेष्टं गम्यतां काममनुजाने प्रसाद्य वः॥ २६॥
सर्वे मामनुजानीत त्यक्ष्यामीदं कलेवरम्।

मैं आपलोगोंको प्रसन्न करके अपनी ओरसे चले जानेकी अनुमति देता हूँ। जिसकी जहाँ इच्छा हो वहाँ अपनी रुचिके अनुसार चला जाय। आप सब लोग मुझे आज्ञा दें कि मैं इस शरीरको अनशन करके त्याग दूँ॥

वैशम्पायन उवाच

तमेवंवादिनं पार्थं बन्धुशोकेन विह्वलम्॥ २७॥
मैवमित्यब्रवीद् व्यासो निगृह्य मुनिसत्तमः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने बन्धु-जनोंके शोकसे विह्वल होकर युधिष्ठिरको ऐसी बातें करते देख मुनिवर व्यासजीने उन्हें रोककर कहा—'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता'॥ २७½॥

व्यास उवाच

अतिवेलं महाराज न शोकं कर्तुमर्हसि॥ २८॥
पुनरुक्तं तु वक्ष्यामि दिष्टमेतदिति प्रभो।

व्यासजी बोले—महाराज! तुम बहुत शोक न करो। प्रभो! मैं पहलेकी कही हुई बात ही फिर दुहरा रहा हूँ। यह सब प्रारब्धका ही खेल है॥ २८½॥

संयोगा विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम्॥ २९॥
बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च।

जैसे पानीमें बुलबुले होते और मिट जाते हैं,उसी प्रकार संसारमें उत्पन्न हुए प्राणियोंके जो आपसमें संयोग होते हैं, उनका अन्त निश्चय ही वियोगमें होता है॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः॥ ३०॥
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्।

सम्पूर्ण संग्रहोंका अन्त विनाश है, सारी उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगोंका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है॥ ३०½॥

सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम्।
भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिः कीर्तिर्दक्षे वसति नालसे॥ ३१॥

आलस्य सुखरूप प्रतीत होता है, परंतु उसका अन्त दुःख है तथा कार्यदक्षता दुःखरूप प्रतीत होती है, परंतु उससे सुखका उदय होता है। इसके सिवा ऐश्वर्य, लक्ष्मी, लज्जा, धृति और कीर्ति—ये कार्यदक्ष पुरुषमें ही निवास करती हैं, आलसीमें नहीं॥ ३१॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः।
न च प्रजालमर्थेभ्यो न सुखेभ्योऽप्यलं धनम्॥ ३२॥

न तो सुहृद् सुख देनेमें समर्थ हैं न शत्रु दुख देनेमें। इसी प्रकार न तो प्रजा धन दे सकती है और न धन सुख दे सकता है॥ ३२॥

यथा सृष्टोऽसि कौन्तेय धात्रा कर्मसु तत् कुरु।
अत एव हि सिद्धिस्ते नेशस्त्वं कर्मणां नृप॥ ३३॥

कुन्तीनन्दन! नरेश्वर! विधाताने जैसे कर्मोंके लिये तुम्हारी सृष्टि की है, तुम उन्हींका अनुष्ठान करो। उन्हींसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। तुम कर्मोंके (फलके) स्वामी या नियन्ता नहीं हो॥ ३३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

अश्मा ऋषि और जनकके संवादद्वारा प्रारब्धकी प्रबलता बतलाते हुए व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

ज्ञातिशोकाभितप्तस्य प्राणानभ्युत्सिसृक्षतः।
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य व्यासः शोकमपानुदत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भाई-बन्धुओंके शोकसे संतप्त हो अपने प्राणोंको त्याग देनेकी इच्छावाले ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके शोकको महर्षि व्यासने इस प्रकार दूर किया॥ १॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अश्मगीतं नरव्याघ्र तन्निबोध युधिष्ठिर॥ २॥

व्यासजी बोले—पुरुषसिंह युधिष्ठिर! इस प्रसंगमें जानकार लोग अश्मा ब्राह्मणके गीतसम्बन्धी इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, इसे सुनो॥ २॥

अश्मानं ब्राह्मणं प्राज्ञं वैदेहो जनको नृपः।
संशयं परिपप्रच्छ दुःखशोकसमन्वितः॥ ३॥

एक समयकी बात है, दुःख-शोकमें डूबे हुए विदेहराज जनकने ज्ञानी ब्राह्मण अश्मासे अपने मनका संदेह इस प्रकार पूछा॥ ३॥

जनक उवाच

आगमे यदि वापाये ज्ञातीनां द्रविणस्य च।
नरेण प्रतिपत्तव्यं कल्याणं कथमिच्छता॥ ४॥

जनक बोले—ब्रह्मन्! कुटुम्बीजन और धनकी उत्पत्ति या विनाश होनेपर कल्याण चाहनेवाले पुरुषको कैसा निश्चय करना चाहिये?॥ ४॥

अश्मोवाच

उत्पन्नमिममात्मानं नरस्यानन्तरं ततः।
तानि तान्यनुवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥ ५॥

अश्माने कहा—राजन्! मनुष्यका यह शरीर जब जन्म ग्रहण करता है, तब उसके साथ ही सुख और दुःख भी उसके पीछे लग जाते हैं॥ ५॥

तेषामन्यतरापत्तौ यद् यदेवोपपद्यते।
तदस्य चेतनामाशु हरत्यभ्रमिवानिलः॥ ६॥

इन दोनोंमेंसे एक-न-एककी प्राप्ति तो होती ही है; अतः जो भी सुख या दुःख उपस्थित होता है, वही मनुष्यके ज्ञानको उसी प्रकार हर लेता है, जैसे हवा बादलको उड़ा ले जाती है॥ ६॥

अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः।
इत्येभिर्हेतुभिस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रसिच्यते॥ ७॥

इसीसे 'मैं कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ और कोई साधारण मनुष्य नहीं हूँ' ये अहंकारकी तीन धाराएँ मनुष्यके चित्तको सींचने लगती हैं॥ ७॥

सम्प्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसंचितान्।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते॥ ८॥

फिर वह मनुष्य भोगोंमें आसक्तचित्त होकर क्रमशः बाप-दादोंकी रखी हुई कमाईको उड़ाकर कंगाल हो जाता है और दूसरोंके धनको हड़प लेना अच्छा मानने लगता है॥ ८॥

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानमसाम्प्रतम्।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः॥ ९॥

जैसे व्याधे अपने बाणोंद्वारा मृगोंको आगे बढ़नेसे रोकते हैं, उसी प्रकार मर्यादा लाँघकर अनुचितरूपसे दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाले उस मनुष्यको राजालोग दण्डद्वारा वैसे कुमार्गपर चलनेसे रोकते हैं॥ ९॥

ये च विंशतिवर्षा वा त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः।
परेण ते वर्षशतान्न भविष्यन्ति पार्थिव॥ १०॥

राजन्! जो बीस या तीस वर्षकी उम्रवाले मनुष्य चोरी आदि कुकर्मोंमें लग जाते हैं, वे सौ वर्षतक जीवित नहीं रह पाते॥ १०॥

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत्।
सर्वप्राणभृतां वृत्तं प्रेक्षमाणस्ततस्ततः॥ ११॥

जहाँ-तहाँ समस्त प्राणियोंके दुःखद बर्तावसे उनपर जो कुछ बीतता है उसे देखता हुआ मनुष्य दरिद्रतासे प्राप्त होनेवाले उन महान् दुःखोंका निवारण करनेके लिये बुद्धिके द्वारा औषध करे (अर्थात् विचारद्वारा अपने-आपको कुमार्गपर जानेसे रोके)॥ ११॥

मानसानां पुनर्योनिर्दुःखानां चित्तविभ्रमः।
अनिष्टोपनिपातो वा तृतीयं नोपपद्यते॥ १२॥

मनुष्योंको बार-बार मानसिक दुःखोंकी प्राप्तिके कारण दो ही हैं—चित्तका भ्रम और अनिष्टकी प्राप्ति। तीसरा कोई कारण सम्भव नहीं है॥ १२॥

एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम्।
विविधान्युपवर्तन्ते तथा संस्पर्शजान्यपि॥ १३॥

इस प्रकार मनुष्यको इन्हीं दो कारणोंसे ये भिन्न-भिन्न प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं। विषयोंकी आसक्तिसे भी ये दुःख प्राप्त होते हैं॥ १३॥

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि॥ १४॥

बुढ़ापा और मृत्यु—ये दोनों दो भेड़ियोंके समान हैं, जो बलवान् दुर्बल, छोटे और बड़े सभी प्राणियोंको खा जाते हैं॥ १४॥

न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू हि मानवः।
अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुन्धराम्॥ १५॥

कोई भी मनुष्य कभी बुढ़ापे और मौतको लाँघ नहीं सकता। भले ही वह समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीपर विजय पा चुका हो॥ १५॥

सुखं वा यदि वा दुःखं भूतानां पर्युपस्थितम्।
प्राप्तव्यमवशैः सर्वं परिहारो न विद्यते॥ १६॥

प्राणियोंके निकट जो सुख या दुःख उपस्थित होता है, वह सब उन्हें विवश होकर सहना ही पड़ता है, क्योंकि उसके टालनेका कोई उपाय नहीं है॥ १६॥

पूर्वे वयसि मध्ये वाप्युत्तरे वा नराधिप।
अवर्जनीयास्तेऽर्था वै कांक्षिता ये ततोऽन्यथा॥ १७॥

नरेश्वर! पूर्वावस्था, मध्यावस्था अथवा उत्तरावस्थामें कभी-न-कभी वे क्लेश अनिवार्यरूपसे प्राप्त होते ही हैं, जिन्हें मनुष्य उनके विपरीतरूपमें चाहता है (अर्थात् सुख-ही-सुखकी इच्छा करता है; परंतु उसे कष्ट भी प्राप्त होते ही हैं)॥ १७॥

अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः।
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते॥ १८॥

अप्रिय वस्तुओंके साथ संयोग, अत्यन्त प्रिय वस्तुओंका वियोग, अर्थ, अनर्थ, सुख और दुःख—इन सबकी प्राप्ति प्रारब्धके विधानके अनुसार होती है॥ १८॥

प्रादुर्भावश्च भूतानां देहत्यागस्तथैव च।
प्राप्तिर्व्यायामयोगश्च सर्वमेतत् प्रतिष्ठितम्॥ १९॥

प्राणियोंकी उत्पत्ति, देहावसान, लाभ* और हानि—ये सब प्रारब्धके ही आधारपर स्थित हैं॥ १९॥

गन्धवर्णरसस्पर्शा निवर्तन्ते स्वभावतः।
तथैव सुखदुःखानि विधानमनुवर्तते॥ २०॥

जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध स्वभावतः आते-जाते रहते हैं, उसी प्रकार मनुष्य सुख और दुःखोंको प्रारब्धानुसार पाता रहता है॥ २०॥

आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम्।
नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवत्युत॥ २१॥

सभी प्राणियोंके लिये बैठना, सोना, चलना-फिरना, उठना और खाना-पीना—ये सभी कार्य समयके अनुसार ही नियत रूपसे होते रहते हैं॥ २१॥

वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः।
श्रीमन्तश्चापरे षण्ढा विचित्रः कालपर्ययः॥ २२॥

कभी-कभी वैद्य भी रोगी, बलवान् भी दुर्बल और श्रीमान् भी असमर्थ हो जाते हैं, यह समयका उलट-फेर बड़ा अद्भुत है॥ २२॥

कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते॥ २३॥

उत्तम कुलमें जन्म, बल-पराक्रम, आरोग्य, रूप, सौभाग्य और उपभोग-सामग्री—ये सब होनहारके अनुसार ही प्राप्त होते हैं॥ २३॥

सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम्।
नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम्॥ २४॥

जो दरिद्र हैं और संतानकी इच्छा नहीं रखते हैं, उनके तो बहुत-से पुत्र हो जाते हैं और जो धनवान् हैं, उनमेंसे किसी-किसीको एक पुत्र भी नहीं प्राप्त होता। विधाताकी चेष्टा बड़ी विचित्र है॥ २४॥

व्याधिरग्निर्जलं शस्त्रं बुभुक्षाश्चापदो विषम्।
ज्वरश्च मरणं जन्तोरुच्चाच्च पतनं तथा॥ २५॥
निर्माणे यस्य यद् दिष्टं तेन गच्छति सेतुना।

रोग, अग्नि, जल, शस्त्र, भूख, प्यास, विपत्ति, विष, ज्वर और ऊँचे स्थानसे गिरना—ये सब जीवकी मृत्युके निमित्त हैं। जन्मके समय जिसके लिये प्रारब्धवश

---

* नीलकण्ठने 'प्राप्ति' का अर्थ 'लाभ' और 'व्यायाम' का अर्थ उसके विपरीत 'अलाभ' किया है।

जो निमित्त नियत कर दिया गया है, वही उसका सेतु है, अतः उसीके द्वारा वह जाता है अर्थात् परलोकमें गमन करता है॥ २५½॥

दृश्यते नाप्यतिक्रामन्न निष्क्रान्तोऽथवा पुनः॥ २६॥
दृश्यते चाप्यतिक्रामन्ननिग्राह्योऽथवा पुनः।

कोई इस सेतुका उल्लंघन करता दिखायी नहीं देता अथवा पहले भी किसीने इसका उल्लंघन किया हो, ऐसा देखनेमें नहीं आया। कोई-कोई पुरुष जो (तपस्या आदि प्रबल पुरुषार्थके द्वारा) दैवके नियन्त्रणमें रहनेयोग्य नहीं है, वह पूर्वोक्त सेतुका उल्लंघन करता भी दिखायी देता है॥ २६½॥

दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन् वसुमान् नरः।
दरिद्रश्च परिक्लिष्टः शतवर्षो जरान्वितः॥ २७॥

इस जगत्में धनवान् मनुष्य भी जवानीमें ही नष्ट होता दिखायी देता है और क्लेशमें पड़ा हुआ दरिद्र भी सौ वर्षोंतक जीवित रहकर अत्यन्त वृद्धावस्थामें मरता देखा जाता है॥ २७॥

अकिञ्चनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः।
समृद्धे च कुले जाता विनश्यन्ति पतंगवत्॥ २८॥

जिनके पास कुछ नहीं है, ऐसे दरिद्र भी दीर्घजीवी देखे जाते हैं और धनवान् कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य भी कीट-पतंगोंके समान नष्ट होते रहते हैं॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः॥ २९॥

जगत्में प्रायः धनवानोंको खाने और पचानेकी शक्ति ही नहीं रहती है और दरिद्रोंके पेटमें काठ भी पच जाते हैं॥ २९॥

अहमेतत् करोमीति मन्यते कालनोदितः।
यद् यदिष्टमसंतोषाद् दुरात्मा पापमाचरेत्॥ ३०॥

दुरात्मा मनुष्य कालसे प्रेरित होकर यह अभिमान करने लगता है कि मैं यह करूँगा। तत्पश्चात् असंतोषवश उसे जो-जो अभीष्ट होता है, उस पापपूर्ण कृत्यको भी वह करने लगता है॥ ३०॥

मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं प्रसंगा निन्दिता बुधैः।
दृश्यन्ते पुरुषाश्चात्र सम्प्रयुक्ता बहुश्रुताः॥ ३१॥

विद्वान् पुरुष शिकार करने, जूआ खेलने, स्त्रियोंके संसर्गमें रहने और मदिरा पीनेके प्रसंगोंकी बड़ी निन्दा करते हैं, परंतु इन पापकर्मोंमें अनेक शास्त्रोंके श्रवण और अध्ययनसे सम्पन्न पुरुष भी संलग्न देखे जाते हैं॥

इति कालेन सर्वार्थानीप्सितानीप्सितानिह।
स्पृशन्ति सर्वभूतानि निमित्तं नोपलभ्यते॥ ३२॥

इस प्रकार कालके प्रभावसे समस्त प्राणी इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंको प्राप्त करते रहते हैं, इस इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिका अदृष्टके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं दिखायी देता॥ ३२॥

वायुमाकाशमग्निं च चन्द्रादित्यावहःक्षपे।
ज्योतींषि सरितः शैलान् कः करोति बिभर्ति च॥ ३३॥

वायु, आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, दिन, रात, नक्षत्र, नदी और पर्वतोंको कालके सिवा कौन बनाता और धारण करता है?॥ ३३॥

शीतमुष्णं तथा वर्षं कालेन परिवर्तते।
एवमेव मनुष्याणां सुखदुःखे नरर्षभ॥ ३४॥

सर्दी, गर्मी और वर्षाका चक्र भी कालसे ही चलता है। नरश्रेष्ठ! इसी प्रकार मनुष्योंके सुख-दुःख भी कालसे ही प्राप्त होते हैं॥ ३४॥

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम्॥ ३५॥

वृद्धावस्था और मृत्युके वशमें पड़े हुए मनुष्यको औषध, मन्त्र, होम और जप भी नहीं बचा पाते हैं॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः॥ ३६॥

जैसे महासागरमें एक काठ एक ओरसे और दूसरा दूसरी ओरसे आकर दोनों थोड़ी देरके लिये मिल जाते हैं तथा मिलकर फिर बिछुड़ भी जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ प्राणियोंके संयोग-वियोग होते रहते हैं॥ ३६॥

ये चैव पुरुषाः स्त्रीभिर्गीतवाद्यैरुपस्थिताः।
ये चानाथाः परान्नादाः कालस्तेषु समक्रियः॥ ३७॥

जगत्में जिन धनवान् पुरुषोंकी सेवामें बहुत-सी सुन्दरियाँ गीत और वाद्योंके साथ उपस्थित हुआ करती हैं और जो अनाथ मनुष्य दूसरोंके अन्नपर जीवन-निर्वाह करते हैं, उन सबके प्रति कालकी समान चेष्टा होती है॥ ३७॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम्॥ ३८॥

हमने संसारमें अनेक बार जन्म लेकर सहस्रों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके सुखका अनुभव किया है; परंतु अब वे किसके हैं अथवा हम उनमेंसे किसके हैं?॥ ३८॥

नैवास्य कश्चिद् भविता नायं भवति कस्यचित्।
पथि संगतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः॥ ३९॥

इस जीवका न तो कोई सम्बन्धी होगा और न यह किसीका सम्बन्धी है। जैसे मार्गमें चलनेवालोंको दूसरे

राहगीरोंका साथ मिल जाता है, उसी प्रकार यहाँ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और सुहृदोंका समागम होता है॥ ३९॥

क्वासे क्व च गमिष्यामि को न्वहं किमिहास्थितः।
कस्मात् किमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः॥ ४०॥

अतः विवेकी पुरुषको अपने मनमें यह विचार करना चाहिये कि 'मैं कहाँ हूँ, कहाँ जाऊँगा, कौन हूँ, यहाँ किसलिये आया हूँ और किसलिये किसका शोक करूँ?'॥

अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ।
पथि संगतमेवैतद् भ्राता माता पिता सखा॥ ४१॥

यह संसार चक्रके समान घूमता रहता है। इसमें प्रियजनोंका सहवास अनित्य है। यहाँ भ्राता, मित्र, पिता और माता आदिका साथ रास्तेमें मिले हुए बटोहियोंके समान ही है॥ ४१॥

न दृष्टपूर्वं प्रत्यक्षं परलोकं विदुर्बुधाः।
आगमांस्त्वनतिक्रम्य श्रद्धातव्यं बुभूषता॥ ४२॥

यद्यपि विद्वान् पुरुष कहते हैं कि परलोक न तो आँखोंके सामने है और न पहलेका ही देखा हुआ है, तथापि अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लंघन न करके उसकी बातोंपर विश्वास करना चाहिये॥ ४२॥

कुर्वीत पितृदैवत्यं धर्माणि च समाचरेत्।
यजेच्च विद्वान् विधिवत् त्रिवर्गं चाप्युपाचरेत्॥ ४३॥

विज्ञ पुरुष पितरोंका श्राद्ध और देवताओंका यजन करे। धर्मानुकूल कार्योंका अनुष्ठान और यज्ञ करे तथा विधिपूर्वक धर्म,अर्थ और कामका भी सेवन करे॥ ४३॥

संनिमज्जेज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे।
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदवबुध्यते॥ ४४॥

जिसमें जरा और मृत्युरूपी बड़े-बड़े ग्राह पड़े हुए हैं, उस गम्भीर कालसमुद्रमें यह सारा संसार डूब रहा है, किंतु कोई इस बातको समझ नहीं पाता है॥ ४४॥

आयुर्वेदमधीयानाः केवलं सपरिग्रहाः।
दृश्यन्ते बहवो वैद्या व्याधिभिः समभिप्लुताः॥ ४५॥

केवल आयुर्वेदका अध्ययन करनेवाले बहुत-से वैद्य भी परिवारसहित रोगोंके शिकार हुए देखे जाते हैं॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च।
न मृत्युमतिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः॥ ४६॥

वे कड़वे-कड़वे काढ़े और नाना प्रकारके घृत पीते रहते हैं तो भी जैसे महासागर अपनी तट-भूमिसे आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार वे मौतको लाँघ नहीं पाते हैं॥

रसायनविदश्चैव सुप्रयुक्तरसायनाः।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः॥ ४७॥

रसायन जाननेवाले वैद्य अपने लिये रसायनोंका अच्छी तरह प्रयोग करके भी वृद्धावस्थाद्वारा वैसे ही जर्जर हुए दिखायी देते हैं, जैसे श्रेष्ठ हाथियोंके आघातसे टूटे हुए वृक्ष दृष्टिगोचर होते हैं॥ ४७॥

तथैव तपसोपेताः स्वाध्यायाभ्यसने रताः।
दातारो यज्ञशीलाश्च न तरन्ति जरान्तकौ॥ ४८॥

इसी प्रकार शास्त्रोंके स्वाध्याय और अभ्यासमें लगे हुए विद्वान्, तपस्वी, दानी और यज्ञशील पुरुष भी जरा और मृत्युको पार नहीं कर पाते हैं॥ ४८॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः समाः।
जातानां सर्वभूतानां न पक्षा न पुनः क्षपाः॥ ४९॥

संसारमें जन्म लेनेवाले सभी प्राणियोंके दिन-रात, वर्ष, मास और पक्ष एक बार बीतकर फिर वापस नहीं लौटते हैं॥ ४९॥

सोऽयं विपुलमध्वानं कालेन ध्रुवमध्रुवः।
नरोऽवशः समभ्येति सर्वभूतनिषेवितम्॥ ५०॥

मृत्युके इस विशाल मार्गका सेवन सभी प्राणियोंको करना पड़ता है। इस अनित्य मानवको भी कालसे विवश होकर कभी न टलनेवाले मृत्युके मार्गपर आना ही पड़ता है॥ ५०॥

देहो वा जीवतोऽभ्येति जीवो वाभ्येति देहतः।
पथि संगममभ्येति दारैरन्यैश्च बन्धुभिः॥ ५१॥

(आस्तिक मतके अनुसार) जीव (चेतन) से शरीरकी उत्पत्ति हो या (नास्तिकोंकी मान्यताके अनुसार) शरीरसे जीवकी। सर्वथा स्त्री-पुत्र आदि या अन्य बन्धुओंके साथ जो समागम होता है, वह रास्तेमें मिलनेवाले राहगीरोंके समान ही है॥ ५१॥

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते जातु केनचित्।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित्॥ ५२॥

किसी भी पुरुषको कभी किसीके साथ भी सदा एक स्थानमें रहनेका सुयोग नहीं मिलता। जब अपने शरीरके साथ भी बहुत दिनोंतक सम्बन्ध नहीं रहता, तब दूसरे किसीके साथ कैसे रह सकता है?॥ ५२॥

क्व नु तेऽद्य पिता राजन् क्व नु तेऽद्य पितामहाः।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽनघ॥ ५३॥

राजन्! आज तुम्हारे पिता कहाँ हैं? आज तुम्हारे पितामह कहाँ गये? निष्पाप नरेश! आज न तो तुम उन्हें देख रहे हो और न वे तुम्हें देखते हैं॥ ५३॥

न चैव पुरुषो द्रष्टा स्वर्गस्य नरकस्य च।
आगमस्तु सतां चक्षुर्नृपते तमिहाचर॥ ५४॥

कोई भी मनुष्य यहींसे इन स्थूल नेत्रोंद्वारा स्वर्ग

और नरकको नहीं देख सकता। उन्हें देखनेके लिये सत्पुरुषोंके पास शास्त्र ही एकमात्र नेत्र हैं, अतः नरेश्वर! तुम यहाँ उस शास्त्रके अनुसार ही आचरण करो॥ ५४॥

चरितब्रह्मचर्यो हि प्रजायेत यजेत च।
पितृदेवमनुष्याणामानृण्यादनसूयकः ॥ ५५॥

मनुष्य पहले ब्रह्मचर्यका पूर्णरूपसे पालन करके गृहस्थ-आश्रम स्वीकार करे और पितरों, देवताओं तथा मनुष्यों (अतिथियों) के ऋणसे मुक्त होनेके लिये संतानोत्पादन तथा यज्ञ करे, किसीके प्रति दोषदृष्टि न रखे॥ ५५॥

स यज्ञशीलः प्रजने निविष्टः
प्राग् ब्रह्मचारी प्रविविक्तचक्षुः।
आराधयेत् स्वर्गमिमं च लोकं
परं च मुक्त्वा हृदयव्यलीकम्॥ ५६॥

मनुष्य पहले ब्रह्मचर्यका पालन करके संतानोत्पादनके लिये विवाह करे, नेत्र आदि इन्द्रियोंको पवित्र रखे और स्वर्गलोक तथा इहलोकके सुखकी आशा छोड़कर हृदयके शोक-संतापको दूर करके यज्ञपरायण हो परमात्माकी आराधना करता रहे॥ ५६॥

समं हि धर्मं चरतो नृपस्य
द्रव्याणि चाभ्याहरतो यथावत्।
प्रवृत्तधर्मस्य यशोऽभिवर्धते
सर्वेषु लोकेषु चराचरेषु॥ ५७॥

राजा यदि नियमपूर्वक प्रजाके निकटसे करके रूपमें द्रव्य ग्रहण करे और राग-द्वेषसे रहित हो राजधर्मका पालन करता रहे तो उस धर्मपरायण नरेशका सुयश सम्पूर्ण चराचर लोकोंमें फैल जाता है॥ ५७॥

इत्येवमाज्ञाय विदेहराजो
वाक्यं समग्रं परिपूर्णहेतुः।
अश्मानमामन्त्र्य विशुद्धबुद्धि-
र्ययौ गृहं स्वं प्रति शान्तशोकः॥ ५८॥

निर्मल बुद्धिवाले विदेहराज जनक अश्माका यह युक्तिपूर्ण सम्पूर्ण उपदेश सुनकर शोकरहित हो गये और उनकी आज्ञा ले अपने घरको लौट गये॥ ५८॥

तथा त्वमप्यच्युत मुञ्च शोक-
मुत्तिष्ठ शक्रोपम हर्षमेहि।
क्षात्रेण धर्मेण मही जिता ते
तां भुङ्क्ष्व कुन्तीसुत मावमंस्थाः॥ ५९॥

अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले इन्द्रतुल्य पराक्रमी कुन्तीकुमार युधिष्ठिर! तुम भी शोक छोड़कर उठो और हृदयमें हर्ष धारण करो। तुमने क्षत्रियधर्मके अनुसार इस पृथ्वीपर विजय पायी है; अतः इसे भोगो। इसकी अवहेलना न करो॥ ५९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्येऽष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा नारद-सृंजय-संवादके रूपमें सोलह राजाओंका उपाख्यान संक्षेपमें सुनाकर युधिष्ठिरके शोकनिवारणका प्रयत्न

वैशम्पायन उवाच

अव्याहरति राजेन्द्रे धर्मपुत्रे युधिष्ठिरे।
गुडाकेशो हृषीकेशमभ्यभाषत पाण्डवः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सबके समझाने-बुझानेपर भी जब धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिर मौन ही रह गये, तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा॥ १॥

अर्जुन उवाच

ज्ञातिशोकाभिसंतप्तो धर्मपुत्रः परंतपः।
एष शोकार्णवे मग्नस्तमाश्वासय माधव॥ २॥

अर्जुन बोले—माधव! शत्रुओंको संताप देनेवाले ये धर्मपुत्र युधिष्ठिर स्वयं भाई-बन्धुओंके शोकसे संतप्त हो शोकके समुद्रमें डूब गये हैं, आप इन्हें धीरज बँधाइये॥

सर्वे स्म ते संशयिताः पुनरेव जनार्दन।
अस्य शोकं महाबाहो प्रणाशयितुमर्हसि॥ ३॥

महाबाहु जनार्दन! हम सब लोग पुनः महान् संशयमें पड़ गये हैं। आप इनके शोकका नाश कीजिये॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गोविन्दो विजयेन महात्मना।
पर्यवर्तत राजानं पुण्डरीकेक्षणोऽच्युतः॥ ४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! महामना अर्जुनके

ऐसा कहनेपर अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले कमलनयन भगवान् गोविन्द राजा युधिष्ठिरकी ओर घूमे—उनके सम्मुख हुए॥ ४॥

अनतिक्रमणीयो हि धर्मराजस्य केशवः।
बाल्यात् प्रभृति गोविन्दः प्रीत्या चाभ्यधिकोऽर्जुनात्॥ ५॥

धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाका कभी उल्लंघन नहीं कर सकते थे; क्योंकि श्रीकृष्ण बाल्यावस्थासे ही उन्हें अर्जुनसे भी अधिक प्रिय थे॥ ५॥

सम्प्रगृह्य महाबाहुर्भुजं चन्दनभूषितम्।
शैलस्तम्भोपमं शौरिरुवाचाभिविनोदयन्॥ ६॥

महाबाहु गोविन्दने युधिष्ठिरकी पत्थरके बने हुए खम्भे-जैसी चन्दनचर्चित भुजाको हाथमें लेकर उनका मनोरंजन करते हुए इस प्रकार बोलना आरम्भ किया॥ ६॥

शुशुभे वदनं तस्य सुदंष्ट्रं चारुलोचनम्।
व्याकोशमिव विस्पष्टं पद्मं सूर्य इवोदिते॥ ७॥

उस समय सुन्दर दाँतों और मनोहर नेत्रोंसे युक्त उनका मुखारविन्द सूर्योदयके समय पूर्णतः विकसित हुए कमलके समान शोभा पा रहा था॥ ७॥

वासुदेव उवाच

मा कृथाः पुरुषव्याघ्र शोकं त्वं गात्रशोषणम्।
न हि ते सुलभा भूयो ये हतास्मिन् रणाजिरे॥ ८॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—पुरुषसिंह! तुम शोक न करो। शोक तो शरीरको सुखा देनेवाला होता है। इस समरांगणमें जो वीर मारे गये हैं, वे फिर सहज ही मिल सकें, यह सम्भव नहीं है॥ ८॥

स्वप्नलब्धा यथा लाभा वितथाः प्रतिबोधने।
एवं ते क्षत्रिया राजन् ये व्यतीता महारणे॥ ९॥

राजन्! जैसे सपनेमें मिले हुए धन जगनेपर मिथ्या हो जाते हैं, उसी प्रकार जो क्षत्रिय महासमरमें नष्ट हो गये हैं, उनका दर्शन अब दुर्लभ है॥ ९॥

सर्वेऽप्यभिमुखाः शूरा विजिता रणशोभिनः।
नैषां कश्चित् पृष्ठतो वा पलायन् वापि पातितः॥ १०॥

संग्राममें शोभा पानेवाले वे सभी शूरवीर शत्रुका सामना करते हुए पराजित हुए हैं। उनमेंसे कोई भी पीठपर चोट खाकर या भागता हुआ नहीं मारा गया है॥

सर्वे त्यक्त्वाऽऽत्मनः प्राणान् युद्ध्वा वीरा महामृधे।
शस्त्रपूता दिवं प्राप्ता न तान् शोचितुमर्हसि॥ ११॥

सभी वीर महायुद्धमें जूझते हुए अपने प्राणोंका परित्याग करके अस्त्र-शस्त्रोंसे पवित्र हो स्वर्गलोकमें गये हैं, अतः तुम्हें उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये॥ ११॥

क्षत्रधर्मरताः शूरा वेदवेदाङ्गपारगाः।
प्राप्ता वीरगतिं पुण्यां तान् न शोचितुमर्हसि॥ १२॥
मृतान् महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन्।

क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर रहनेवाले, वेद-वेदांगोंके पारंगत वे शूरवीर नरेश पुण्यमयी वीर-गतिको प्राप्त हुए हैं। पहलेके मरे हुए महानुभाव भूपतियोंका चरित्र सुनकर तुम्हें अपने उन बन्धुओंके लिये भी शोक नहीं करना चाहिये॥ १२½॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्॥ १३॥
सृंजयं पुत्रशोकार्तं यथायं नारदोऽब्रवीत्।

इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, जैसा कि इन देवर्षि नारदजीने पुत्र-शोकसे पीड़ित हुए राजा सृंजयसे कहा था॥ १३½॥

सुखदुःखैरहं त्वं च प्रजाः सर्वाश्च सृंजय॥ १४॥
अविमुक्ता मरिष्यामस्तत्र का परिदेवना।

'सृंजय! मैं, तुम और ये समस्त प्रजावर्गके लोग कोई भी सुख और दुःखोंके बन्धनसे मुक्त नहीं हुए हैं तथा एक दिन हम सब लोग मरेंगे भी। फिर इसके लिय शोक क्या करना है?॥ १४½॥

महाभाग्यं पुरा राज्ञां कीर्त्यमानं मया शृणु॥ १५॥
गच्छावधानं नृपते ततो दुःखं प्रहास्यसि।

'नरेश्वर! मैं पूर्ववर्ती राजाओंके महान् सौभाग्यका वर्णन करता हूँ। सुनो और सावधान हो जाओ। इससे तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा॥ १५½॥

मृतान् महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन्॥ १६॥
शममानय संतापं शृणु विस्तरशश्च मे।

'मरे हुए महानुभाव भूपतियोंके नाम सुनकर ही तुम अपने मानसिक संतापको शान्त कर लो और मुझसे विस्तारपूर्वक उन सबका परिचय सुनो॥ १६½॥

क्रूरग्रहाभिशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम्॥ १७॥
अग्रिमाणां क्षितिभुजामुपादानं मनोहरम्।

'उन पूर्ववर्ती राजाओंका श्रवण करनेयोग्य मनोहर वृत्तान्त बहुत ही उत्तम, क्रूर ग्रहोंको शान्त करनेवाला और आयुको बढ़ानेवाला है॥ १७½॥

आविक्षितं मरुत्तं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम॥ १८॥
यस्य सेन्द्राः सवरुणा बृहस्पतिपुरोगमाः।
देवा विश्वसृजो राज्ञो यज्ञमीयुर्महात्मनः॥ १९॥

'सृंजय! हमने सुना है कि अविक्षित्के पुत्र वे राजा मरुत्त भी मर गये, जिन महात्मा नरेशके यज्ञमें इन्द्र तथा वरुणसहित सम्पूर्ण देवता और प्रजापतिगण बृहस्पतिको आगे करके पधारे थे॥ १८-१९॥

स्वयं श्रीकृष्ण शोकमग्न युधिष्ठिरको समझा रहे हैं

यः स्पर्धयायजच्छक्रं देवराजं पुरंदरम्।
शक्रप्रियैषी यं विद्वान् प्रत्याचष्ट बृहस्पतिः॥ २०॥
संवर्तो याजयामास यवीयान् स बृहस्पतेः।

'उन्होंने देवराज इन्द्रसे स्पर्धा रखनेके कारण अपने यज्ञ-वैभवद्वारा उन्हें पराजित कर दिया था। इन्द्रका प्रिय चाहनेवाले बृहस्पतिजीने जब उनका यज्ञ करानेसे इन्कार कर दिया, तब उन्हींके छोटे भाई संवर्तने मरुत्तका यज्ञ कराया था॥ २०½॥

यस्मिन् प्रशासति महीं नृपतौ राजसत्तम।
अकृष्टपच्या पृथिवी विबभौ चैत्यमालिनी॥ २१॥

नृपश्रेष्ठ! राजा मरुत्त जब इस पृथ्वीका शासन करते थे, उस समय यह बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा करती थी और समस्त भूमण्डलमें देवालयोंकी माला-सी दृष्टिगोचर होती थी, जिससे इस पृथ्वीकी बड़ी शोभा होती थी॥ २१॥

आविक्षितस्य वै सत्रे विश्वेदेवाः सभासदः।
मरुतः परिवेष्टारः साध्याश्चासन् महात्मनः॥ २२॥

'महामना मरुत्तके यज्ञमें विश्वेदेवगण सभासद थे और मरुद्गण तथा साध्यगण रसोई परोसनेका काम करते थे॥ २२॥

मरुद्गणा मरुत्तस्य यत् सोममपिबंस्ततः।
देवान् मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः॥ २३॥

'मरुद्गणोंने मरुत्तके यज्ञमें उस समय खूब सोमरसका पान किया था। राजाने जो दक्षिणाएँ दी थीं, वे देवताओं, मनुष्यों और गन्धर्वोंके सभी यज्ञोंसे बढ़कर थीं॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः॥ २४॥

'सृंजय! धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य—इन चारों बातोंमें राजा मरुत्त तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब औरोंकी क्या बात है? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो॥ २४॥

सुहोत्रं चैवातिथिनं मृतं सृंजय शुश्रुम।
यस्मिन् हिरण्यं ववृषे मघवा परिवत्सरम्॥ २५॥

'सृंजय! अतिथिसत्कारके प्रेमी राजा सुहोत्र भी जीवित नहीं रहे, ऐसा सुननेमें आया है। उनके राज्यमें इन्द्रने एक वर्षतक सोनेकी वर्षा की थी॥ २५॥

सत्यनामा वसुमती यं प्राप्यासीज्जनाधिपम्।
हिरण्यमवहन् नद्यस्तस्मिञ्जनपदेश्वरे॥ २६॥

'राजा सुहोत्रको पाकर पृथ्वीका वसुमती नाम सार्थक हो गया था। जिस समय वे जनपदके स्वामी थे, उन दिनों वहाँकी नदियाँ अपने जलके साथ-साथ सुवर्ण बहाया करती थीं॥ २६॥

कूर्मान् कर्कटकान् नक्रान् मकराञ्छिशुकानपि।
नदीष्वपातयद् राजन् मघवा लोकपूजितः॥ २७॥

'राजन्! लोकपूजित इन्द्रने सोनेके बने हुए बहुत-से कछुए, केकड़े, नाके, मगर, सूँस और मत्स्य उन नदियोंमें गिराये थे॥ २७॥

हिरण्यान् पातितान् दृष्ट्वा मत्स्यान् मकरकच्छपान्।
सहस्रशोऽथ शतशस्ततोऽस्मयदथोऽतिथिः॥ २८॥

'उन नदियोंमें सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें सुवर्णमय मत्स्यों, ग्राहों और कछुओंको गिराया गया देख अतिथिप्रिय राजा सुहोत्र आश्चर्यचकित हो उठे थे॥

तद्धिरण्यमपर्यन्तमावृतं कुरुजाङ्गले।
ईजानो विततेयज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समार्पयत्॥ २९॥

'वह अनन्त सुवर्णराशि कुरुजांगल देशमें छा गयी थी। राजा सुहोत्रने वहाँ यज्ञ किया और उसमें वह सारी धनराशि ब्राह्मणोंमें बाँट दी॥ २९॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः॥ ३०॥
अदक्षिणमयज्वानं श्वैत्य संशाम्य मा शुचः।

'श्वेतपुत्र सृंजय! वे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—इन चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब दूसरोंकी क्या बात है? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो। उसने न तो कोई यज्ञ किया था और न दक्षिणा ही बाँटी थी, अतः उसके लिये शोक न करो, शान्त हो जाओ॥ ३०½॥

अङ्गं बृहद्रथं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम॥ ३१॥
यः सहस्रं सहस्राणां श्वेतानश्वानवासृजत्।
सहस्रं च सहस्राणां कन्या हेमपरिष्कृताः॥ ३२॥
ईजानो विततेयज्ञे दक्षिणामत्यकालयत्।

'सृंजय! अंगदेशके राजा बृहद्रथकी भी मृत्यु हुई थी, ऐसा हमने सुना है। उन्होंने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमें दस लाख श्वेत घोड़े और सोनेके आभूषणोंसे भूषित दस लाख कन्याएँ दक्षिणारूपमें बाँटी थीं॥ ३१-३२½॥

यः सहस्रं सहस्राणां गजानां पद्ममालिनाम्॥ ३३॥
ईजानो विततेयज्ञे दक्षिणामत्यकालयत्।

'इसी प्रकार यजमान बृहद्रथने उस विस्तृत यज्ञमें सुवर्णमय कमलोंकी मालाओंसे अलंकृत दस लाख हाथी भी दक्षिणामें बाँटे थे॥ ३३½॥

शतं शतसहस्राणि वृषाणां हेममालिनाम्॥ ३४॥
गवां सहस्रानुचरं दक्षिणामत्यकालयत्।

'उन्होंने उस यज्ञमें एक करोड़ सुवर्णमालाधारी गाय, बैल और उनके सहस्रों सेवक दक्षिणारूपमें दिये थे॥

अङ्गस्य यजमानस्य तदा विष्णुपदे गिरौ॥ ३५॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।

'यजमान अंग जब विष्णुपद पर्वतपर यज्ञ कर रहे थे, उस समय इन्द्र वहाँ सोमरस पीकर मतवाले हो उठे थे और दक्षिणाओंसे ब्राह्मणोंपर भी आनन्दोन्माद छा गया था॥ ३५½॥

यस्य यज्ञेषु राजेन्द्र शतसंख्येषु वै पुरा॥ ३६॥
देवान् मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः।

'राजेन्द्र! प्राचीन कालमें अंगराजने ऐसे-ऐसे सौ यज्ञ किये थे और उन सबमें जो दक्षिणाएँ दी गयी थीं, वे देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्योंके यज्ञोंसे बढ़ गयी थीं॥

न जातो जनिता नान्यः पुमान् यः सम्प्रदास्यति॥ ३७॥
यदङ्गः प्रददौ वित्तं सोमसंस्थासु सप्तसु।

'अंगराजने सातों सोम-संस्थाओंमें[1] जो धन दिया था, उतना जो दे सके, ऐसा दूसरा न तो कोई मनुष्य पैदा हुआ है और न पैदा होगा॥ ३७½॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया॥ ३८॥
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः।

'सृंजय! पूर्वोक्त चारों कल्याणकारी गुणोंमें वे बृहद्रथ तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये तो दूसरोंकी क्या बात है? अतः तुम अपने पुत्रके लिये संतप्त न होओ॥ ३८½॥

शिबिमौशीनरं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम॥ ३९॥
य इमां पृथिवीं सर्वां चर्मवत्समवेष्टयत्।

'सृंजय! जिन्होंने इस सम्पूर्ण पृथ्वीको चमड़ेकी भाँति लपेट लिया था (सर्वथा अपने अधीन कर लिया था), वे उशीनरपुत्र राजा शिबि भी मरे थे, यह हमने सुना है॥ ३९½॥

महता रथघोषेण पृथिवीमनुनादयन्॥ ४०॥
एकच्छत्रां महीं चक्रे जैत्रेणैकरथेन यः।

'वे अपने रथकी गम्भीर ध्वनिसे पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए एकमात्र विजयशील रथके द्वारा इस भूमण्डलका एकछत्र शासन करते थे॥ ४०½॥

यावदद्य गवाश्वं स्यादारण्यैः पशुभिः सह॥ ४१॥
तावतीः प्रददौ गाः स शिबिरौशीनरोऽध्वरे।

'आज संसारमें जंगली पशुओंसहित जितने गाय-बैल और घोड़े हैं, उतनी संख्यामें उशीनरपुत्र शिबिने अपने यज्ञमें केवल गौओंका दान किया॥ ४१½॥

न वोढारं धुरं तस्य कश्चिन्मेने प्रजापतिः॥ ४२॥
न भूतं न भविष्यं च सर्वराजसु सृंजय।
अन्यत्रौशीनराच्छैब्याद् राजर्षेरिन्द्रविक्रमात्॥ ४३॥

'सृंजय! प्रजापति ब्रह्माने इन्द्रके तुल्य पराक्रमी उशीनरपुत्र राजा शिबिके सिवा सम्पूर्ण राजाओंमें भूत या भविष्यकालके दूसरे किसी राजाको ऐसा नहीं माना, जो शिबिका कार्यभार वहन कर सकता हो॥ ४२-४३॥

अदक्षिणमयज्वानं मा पुत्रमनुतप्यथाः।
स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः॥ ४४॥

'सृंजय! राजा शिबि पूर्वोक्त चारों कल्याणकारी बातोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे। तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये तब दूसरेकी क्या बात है, अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक मत करो। उसने न तो कोई यज्ञ किया था, न दक्षिणा ही दी थी; अतः उस पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये॥ ४४॥

भरतं चैव दौष्यन्तिं मृतं सृंजय शुश्रुम।
शाकुन्तलं महात्मानं भूरिद्रविणसंचयम्॥ ४५॥

'सृंजय! दुष्यन्त और शकुन्तलाके पुत्र महाधनी महामनस्वी भरत भी मृत्युके अधीन हो गये, यह हमने सुना था॥ ४५॥

यो बद्ध्वा त्रिशतं चाश्वान् देवेभ्यो यमुनामनु।
सरस्वतीं विंशतिं च गङ्गामनु चतुर्दश॥ ४६॥
अश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च।
इष्टवान् स महातेजा दौष्यन्तिर्भरतः पुरा॥ ४७॥

'उन महातेजस्वी दुष्यन्तकुमार भरतने पूर्वकालमें देवताओंकी प्रसन्नताके लिये यमुनाके तटपर तीन सौ, सरस्वतीके तटपर बीस और गंगाके तटपर चौदह घोड़े बाँधकर उतने-उतने अश्वमेध यज्ञ किये थे।[2] उन्होंने अपने जीवनमें एक सहस्र अश्वमेध और सौ राजसूय यज्ञ सम्पन्न किये थे॥ ४६-४७॥

१-अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम—ये सात सोम-संस्थाएँ हैं।

२-पहले द्रोणपर्वमें जो सोलह राजाओंके प्रसंग आये हैं, उनमें और यहाँके प्रसंगमें पाठभेदोंके कारण बहुत अन्तर देखा जाता है। वहाँ भरतके द्वारा यमुनातटपर सौ, सरस्वतीतटपर तीन सौ और गंगातटपर चार सौ अश्वमेध यज्ञ किये गये थे—यह उल्लेख है।

भरतस्य महत् कर्म सर्वराजसु पार्थिवाः।
खं मर्त्या इव बाहुभ्यां नानुगन्तुमशक्नुवन्॥ ४८॥

'जैसे मनुष्य दोनों भुजाओंसे आकाशको तैर नहीं सकते, उसी प्रकार सम्पूर्ण राजाओंमें भरतका जो महान् कर्म है, उसका दूसरे राजा अनुकरण न कर सके॥ ४८॥

परं सहस्राद् यो बद्धान् हयान् वेदीर्वितत्य च।
सहस्रं यत्र पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ॥ ४९॥

'उन्होंने सहस्रसे भी अधिक घोड़े बाँधे और यज्ञ-वेदियोंका विस्तार करके अश्वमेध यज्ञ किये। उसमें भरतने आचार्य कण्वको एक हजार सुवर्णके बने हुए कमल भेंट किये॥ ४९॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः॥ ५०॥

'सृंजय! वे साम, दान, दण्ड और भेद—इन चार कल्याणमयी नीतियों अथवा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—इन चार मंगलकारी गुणोंमें तुमसे बहुत बढ़े हुए थे। तुम्हारे पुत्रकी अपेक्षा भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब दूसरा कौन जीवित रह सकता है। अतः तुम्हें अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये॥ ५०॥

रामं दाशरथिं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम।
योऽन्वकम्पत वै नित्यं प्रजाः पुत्रानिवौरसान्॥ ५१॥

'सृंजय! सुननेमें आया है कि दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामजी भी यहाँसे परम धामको चले गये थे, जो सदा अपनी प्रजापर वैसी ही कृपा रखते थे, जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंपर रखता है॥ ५१॥

विधवा यस्य विषये नानाथाः काश्चनाभवन्।
सदैवासीत् पितृसमो रामो राज्यं यदन्वशात्॥ ५२॥

'उनके राज्यमें कोई भी स्त्री अनाथ-विधवा नहीं हुई। श्रीरामचन्द्रजीने जबतक राज्यका शासन किया, तबतक वे अपनी प्रजाके लिये सदा ही पिताके समान कृपालु बने रहे॥ ५२॥

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि समपादयत्।
नित्यं सुभिक्षमेवासीद् रामे राज्यं प्रशासति॥ ५३॥

'मेघ समयपर वर्षा करके खेतीको अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता था—उसे बढ़ने और फूलने-फलनेका अवसर देता था। रामके राज्य-शासनकालमें सदा सुकाल ही रहता था (कभी अकाल नहीं पड़ता था)॥

प्राणिनो नाप्सु मज्जन्ति नान्यथा पावकोऽदहत्।
रुजाभयं न तत्रासीद् रामे राज्यं प्रशासति॥ ५४॥

'रामके राज्यका शासन करते समय कभी कोई प्राणी जलमें नहीं डूबते थे, आग अनुचितरूपसे कभी किसीको नहीं जलाती थी तथा किसीको रोगका भय नहीं होता था॥ ५४॥

आसन् वर्षसहस्रिण्यस्तथा वर्षसहस्रकाः।
अरोगाः सर्वसिद्धार्था रामे राज्यं प्रशासति॥ ५५॥

'श्रीरामचन्द्रजी जब राज्यका शासन करते थे, उन दिनों हजार वर्षतक जीनेवाली स्त्रियाँ और सहस्रों वर्षतक जीवित रहनेवाले पुरुष थे। किसीको कोई रोग नहीं सताता था, सभीके सारे मनोरथ सिद्ध होते थे॥

नान्योऽन्येन विवादोऽभूत् स्त्रीणामपि कुतो नृणाम्।
धर्मनित्याः प्रजाश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति॥ ५६॥

'स्त्रियोंमें भी परस्पर विवाद नहीं होता था; फिर पुरुषोंकी तो बात ही क्या है? श्रीरामके राज्य-शासनकालमें समस्त प्रजा सदा धर्ममें तत्पर रहती थी॥

संतुष्टाः सर्वसिद्धार्था निर्भयाः स्वैरचारिणः।
नराः सत्यव्रताश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति॥ ५७॥

'श्रीरामचन्द्रजी जब राज्य करते थे, उस समय सभी मनुष्य संतुष्ट, पूर्णकाम, निर्भय, स्वाधीन और सत्यव्रती थे॥ ५७॥

नित्यपुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः।
सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति॥ ५८॥

'श्रीरामके राज्यशासनकालमें सभी वृक्ष बिना किसी विघ्न-बाधाके सदा फले-फूले रहते थे और समस्त गौएँ एक-एक दोन दूध देती थीं॥ ५८॥

स चतुर्दशवर्षाणि वने प्रोष्य महातपाः।
दशाश्वमेधान् जारूथ्यानाजहार निरर्गलान्॥ ५९॥

'महातपस्वी श्रीरामने चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करके राज्य पानेके अनन्तर दस ऐसे अश्वमेध यज्ञ किये, जो सर्वथा स्तुतिके योग्य थे तथा जहाँ किसी भी याचकके लिये दरवाजा बंद नहीं होता था॥ ५९॥

युवा श्यामो लोहिताक्षो मातङ्ग इव यूथपः।
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः॥ ६०॥

'श्रीरामचन्द्रजी नवयुवक और श्याम वर्णवाले थे। उनकी आँखोंमें कुछ-कुछ लालिमा शोभा देती थी। वे यूथपति गजराजके समान शक्तिशाली थे। उनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी थीं। उनका मुख सुन्दर और कंधे सिंहके समान थे॥ ६०॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
अयोध्याधिपतिर्भूत्वा रामो राज्यमकारयत्॥ ६१॥

'श्रीरामने अयोध्याके अधिपति होकर ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य किया था॥ ६१॥

स चेन्ममार संजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः॥ ६२॥

'संजय! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी यहाँ रह न सके, तब दूसरोंकी क्या बात है? अतः तुम्हें अपने पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये॥ ६२॥

भगीरथं च राजानं मृतं संजय शुश्रुम।
यस्येन्द्रो वितते यज्ञे सोमं पीत्वा मदोत्कटः॥ ६३॥
असुराणां सहस्राणि बहूनि सुरसत्तमः।
अजयद् बाहुवीर्येण भगवान् पाकशासनः॥ ६४॥

'संजय! राजा भगीरथ भी कालके गालमें चले गये, ऐसा हमने सुना है। जिनके विस्तृत यज्ञमें सोम पीकर मदोन्मत्त हुए सुरश्रेष्ठ भगवान् पाकशासन इन्द्रने अपने बाहुबलसे कई सहस्र असुरोंको पराजित किया॥

यः सहस्रं सहस्राणां कन्या हेमविभूषिताः।
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत्॥ ६५॥

'जिन्होंने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमें सोनेके आभूषणोंसे विभूषित दस लाख कन्याओंका दक्षिणारूपमें दान किया था॥ ६५॥

सर्वा रथगताः कन्या रथाः सर्वे चतुर्युजः।
शतं शतं रथे नागाः पद्मिनो हेममालिनः॥ ६६॥

'वे सभी कन्याएँ अलग-अलग रथमें बैठी हुई थीं। प्रत्येक रथमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे। हर एक रथके पीछे सोनेकी मालाओंसे विभूषित तथा मस्तकपर कमलके चिह्नोंसे अलंकृत सौ-सौ हाथी थे॥ ६६॥

सहस्रमश्वा एकैकं हस्तिनं पृष्ठतोऽन्वयुः।
गवां सहस्रमश्वेऽश्वे सहस्रं गव्यजाविकम्॥ ६७॥

'प्रत्येक हाथीके पीछे एक-एक हजार घोड़े, हर एक घोड़ेके पीछे हजार-हजार गायें और एक-एक गायके साथ हजार-हजार भेड़-बकरियाँ चल रही थीं॥ ६७॥

उपह्वरे निवसतो यस्याङ्के निषसाद ह।
गङ्गा भागीरथी तस्मादुर्वशी चाभवत् पुरा॥ ६८॥

'तटके निकट निवास करते समय गंगाजी राजा भगीरथकी गोदमें आ बैठी थीं। इसलिये वे पूर्वकालमें भागीरथी और उर्वशी नामसे प्रसिद्ध हुईं॥ ६८॥

भूरिदक्षिणमिक्ष्वाकुं यजमानं भगीरथम्।
त्रिलोकपथगा गङ्गा दुहितृत्वमुपेयुषी॥ ६९॥

'त्रिपथगामिनी गंगाने पुत्रीभावको प्राप्त होकर पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले इक्ष्वाकुवंशी यजमान भगीरथको अपना पिता माना॥ ६९॥

स चेन्ममार संजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः॥ ७०॥

संजय! वे पूर्वोक्त चारों बातोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, जब वे भी कालसे न बच सके तो दूसरोंके लिये क्या कहा जा सकता है? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो॥

दिलीपं च महात्मानं मृतं संजय शुश्रुम।
यस्य कर्माणि भूरीणि कथयन्ति द्विजातयः॥ ७१॥

'संजय! महामना राजा दिलीप भी मरे थे, यह सुननेमें आया है। उनके महान् कर्मोंका आज भी ब्राह्मणलोग वर्णन करते हैं॥ ७१॥

य इमां वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः।
ददौ तस्मिन् महायज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समाहितः॥ ७२॥

'एकाग्रचित्त हुए उन नरेशने अपने उस महायज्ञमें रत्न और धनसे परिपूर्ण इस सारी पृथ्वीका ब्राह्मणोंके लिये दान कर दिया था॥ ७२॥

यस्येह यजमानस्य यज्ञे यज्ञे पुरोहितः।
सहस्रं वारणान् हैमान् दक्षिणामत्यकालयत्॥ ७३॥

'यजमान दिलीपके प्रत्येक यज्ञमें पुरोहितजी सोनेके बने हुए एक हजार हाथी दक्षिणारूपमें पाकर उन्हें अपने घर ले जाते थे॥ ७३॥

यस्य यज्ञे महानासीद् यूपः श्रीमान् हिरण्मयः।
तं देवाः कर्म कुर्वाणाः शक्रज्येष्ठा उपाश्रयन्॥ ७४॥

'उनके यज्ञमें सोनेका बना हुआ कान्तियुक्त बहुत बड़ा यूप शोभा पाता था। यज्ञकर्म करते हुए इन्द्र आदि देवता सदा उसी यूपका आश्रय लेकर रहते थे॥ ७४॥

चषाले यस्य सौवर्णे तस्मिन् यूपे हिरण्मये।
ननृतुर्देवगन्धर्वाः षट् सहस्राणि सप्तधा॥ ७५॥
अवादयत् तत्र वीणां मध्ये विश्वावसुः स्वयम्।
सर्वभूतान्यमन्यन्त मम वादयतीत्ययम्॥ ७६॥

'उनके उस सुवर्णमय यूपमें जो सोनेका चषाल (घेरा) बना था, उसके ऊपर छः हजार देवगन्धर्व नृत्य किया करते थे। वहाँ साक्षात् विश्वावसु बीचमें बैठकर सात स्वरोंके अनुसार वीणा बजाया करते थे। उस समय सब प्राणी यही समझते थे कि ये मेरे ही आगे बाजा बजा रहे हैं॥ ७५-७६॥

एतद् राज्ञो दिलीपस्य राजानो नानुचक्रिरे।
यस्येभा हेमसंछन्नाः पथि मत्ताः स्म शेरते॥ ७७॥
राजानं शतधन्वानं दिलीपं सत्यवादिनम्।
येऽपश्यन् सुमहात्मानं तेऽपि स्वर्गजितो नराः॥ ७८॥

'राजा दिलीपके इस महान् कर्मका अनुसरण दूसरे राजा नहीं कर सके। उनके सुनहरे साज-बाज और सोनेके आभूषणोंसे सजे हुए मतवाले हाथी रास्तेपर सोये रहते थे। सत्यवादी शतधन्वा महामनस्वी राजा दिलीपका जिन लोगोंने दर्शन किया था, उन्होंने भी स्वर्गलोकको जीत लिया॥ ७७-७८॥

त्रयः शब्दा न जीर्यन्ते दिलीपस्य निवेशने।
स्वाध्यायघोषो ज्याघोषो दीयतामिति वै त्रयः॥ ७९॥

'महाराज दिलीपके भवनमें वेदोंके स्वाध्यायका गम्भीर घोष, शूरवीरोंके धनुषकी टंकार तथा 'दान दो' की पुकार—ये तीन प्रकारके शब्द कभी बंद नहीं होते थे॥ ७९॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः॥ ८०॥

'सृंजय! वे राजा दिलीप चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़कर थे। तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये तो दूसरोंकी क्या बात है? अतः तुम्हें अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये॥ ८०॥

मान्धातारं यौवनाश्वं मृतं सृंजय शुश्रुम।
यं देवा मरुतो गर्भं पितुः पार्श्वादपाहरन्॥ ८१॥

'सृंजय! जिन्हें मरुत् नामक देवताओंने गर्भावस्थामें पिताके पार्श्वभागको फाड़कर निकाला था, वे युवनाश्वके पुत्र मान्धाता भी मृत्युके अधीन हो गये, यह हमारे सुननेमें आया है॥ ८१॥

समृद्धो युवनाश्वस्य जठरे यो महात्मनः।
पृषदाज्योद्भवः श्रीमांस्त्रिलोकविजयी नृपः॥ ८२॥

'त्रिलोकविजयी श्रीमान् राजा मान्धाता पृषदाज्य (दधिमिश्रित घी जो पुत्रोत्पत्तिके लिये तैयार करके रखा गया था) से उत्पन्न हुए थे। वे अपने पिता महामना युवनाश्वके पेटमें ही पले थे॥ ८२॥

यं दृष्ट्वा पितुरुत्सङ्गे शयानं देवरूपिणम्।
अन्योन्यमब्रुवन् देवाः कमयं धास्यतीति वै॥ ८३॥

'जब वे शिशु-अवस्थामें पिताके पेटसे पैदा हो उनकी गोदमें सो रहे थे, उस समय उनका रूप देवताओंके बालकोंके समान दिखायी देता था। उस अवस्थामें उन्हें देखकर देवता आपसमें बात करने लगे 'यह मातृहीन बालक किसका दूध पीयेगा'॥ ८३॥

मामेव धास्यतीत्येवमिन्द्रोऽथाभ्युपपद्यत।
मान्धातेति ततस्तस्य नाम चक्रे शतक्रतुः॥ ८४॥

'यह सुनकर इन्द्र बोल उठे 'मां धाता—मेरा दूध पीयेगा।' जब इन्द्रने इस प्रकार उसे पिलाना स्वीकार कर लिया, तबसे उन्होंने ही उस बालकका नाम 'मान्धाता' रख दिया॥ ८४॥

ततस्तु पयसो धारां पुष्टिहेतोर्महात्मनः।
तस्यास्ये यौवनाश्वस्य पाणिरिन्द्रस्य चास्रवत्॥ ८५॥

'तदनन्तर उस महामनस्वी बालक युवनाश्वकुमारकी पुष्टिके लिये उसके मुखमें इन्द्रके हाथसे दूधकी धारा झरने लगी॥ ८५॥

तं पिबन् पाणिमिन्द्रस्य शतमह्ना व्यवर्धत।
स आसीद् द्वादशसमो द्वादशाहेन पार्थिवः॥ ८६॥

'इन्द्रके उस हाथको पीता हुआ वह बालक एक ही दिनमें सौ दिनके बराबर बढ़ गया। बारह दिनोंमें राजकुमार मान्धाता बारह वर्षकी अवस्थावाले बालकके समान हो गये॥ ८६॥

तमिमं पृथिवी सर्वा एकाह्ना समपद्यत।
धर्मात्मानं महात्मानं शूरमिन्द्रसमं युधि॥ ८७॥

'राजा मान्धाता बड़े धर्मात्मा और महामनस्वी थे। युद्धमें इन्द्रके समान शौर्य प्रकट करते थे। यह सारी पृथ्वी एक ही दिनमें उनके अधिकारमें आ गयी थी॥

यश्चाङ्गारं तु नृपतिं मरुत्तमसितं गयम्।
अङ्गं बृहद्रथं चैव मान्धाता समरेऽजयत्॥ ८८॥

'मान्धाताने समरांगणमें राजा अंगार, मरुत्त, असित, गय तथा अंगराज बृहद्रथको भी पराजित कर दिया था॥

यौवनाश्वो यदाङ्गारं समरे प्रत्ययुध्यत।
विस्फारैर्धनुषो देवा द्यौरभेदीति मेनिरे॥ ८९॥

'जिस समय युवनाश्वपुत्र मान्धाताने रणभूमिमें राजा अङ्गारके साथ युद्ध किया था, उस समय देवताओंने ऐसा समझा कि 'उनके धनुषकी टंकारसे सारा आकाश ही फट पड़ा है'॥ ८९॥

यत्र सूर्य उदेति स्म यत्र च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥ ९०॥

'जहाँ सूर्य उदय होते हैं वहाँसे लेकर जहाँ अस्त होते हैं वहाँतकका सारा देश युवनाश्वपुत्र मान्धाताका ही राज्य कहलाता था॥ ९०॥

अश्वमेधशतेनेष्ट्वा राजसूयशतेन च।
अददाद् रोहितान् मत्स्यान् ब्राह्मणेभ्यो विशाम्पते॥ ९१॥
हैरण्यान् योजनोत्सेधानायतान् दशयोजनम्।
अतिरिक्तान् द्विजातिभ्यो व्यभजंस्त्वितरे जनाः॥ ९२॥

'प्रजानाथ! उन्होंने सौ अश्वमेध तथा सौ राजसूय यज्ञ करके दस योजन लंबे तथा एक योजन ऊँचे बहुत-से सोनेके रोहित नामक मत्स्य बनवाकर ब्राह्मणोंको दान